सर्वसार उपनिषद

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु।
सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

“हे परमात्मन्! आप हम दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शक्ति अर्जित करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी हो। हम दोनों कभी एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या-द्वेष न करें। हे शक्ति सम्पन्न! हमारे त्रिविध तापों का शमन हो। अक्षय शांति की प्राप्ति हो।”

~ सर्वसार उपनिषद्, शांति पाठ

आचार्य प्रशांत: पहला प्रश्न आया है, “आचार्य जी, कृपया शांति पाठ पर कुछ कहें।”

दो बातें समझनी होंगी, पहली बात गुरु और शिष्य के संबंध के बारे में है और दूसरी बात त्रिविध तापों के बारे में है।

गुरु और शिष्य जब आमने-सामने बैठे हैं देह रूप में तो हैं तो दोनों जीव ही। बस एक जीव है जिसकी चेतना ऊँचाई पा चुकी है और उन ऊँचाइयों से अपने द्वारा पाए गए अमृत को बिखेरना चाहती है, नीचे वालों पर उड़ेलना चाहती है ताकि जो नीचे हों, वो भी ऊपर आ सकें।

चेतना की ऊँचाई की एक अनिवार्य निशानी होती है सद्भावना, करुणा, प्रेम। जो ऊँचा उठ गया, उसके पास कोई विकल्प नहीं रह जाता; उसे नीचे की ओर हाथ बढ़ाना ही पड़ता है नीचे वाले को ऊपर खींचने के लिए — यही ऊँचाई की पहचान है।

जो ऊँचे पहुँच गया हो और निचाई को त्याग दे, निचाई से कोई मतलब ही न रखे, उसकी ऊँचाई बड़ी निजी है, बड़ी व्यक्तिगत किस्म की है, इसलिए बड़ी सीमित और बड़ी क्षुद्र है।

तो बैठे हैं गुरु और बैठे हैं शिष्य, और दोनों एक साथ प्रार्थना कर रहे हैं। दोनों एक साथ प्रार्थना कर रहे हैं क्योंकि जो ऊपर पहुँची हुई चेतना है, वह भी अभी अपने-आपको अभिव्यक्त तो किसी जीव के माध्यम से ही कर रही है, वह चेतना है तो किसी जीव की ही, ऊँची है, पर है अभी भी वह इस पार्थिव दुनिया की ही।

उसने अभिव्यक्ति के लिए जो माध्यम, जो करण चुना है, वह देह ही है, और देह दोषों का घर होती है। बात भले ही ऊँची-से-ऊँची कही जा रही हो, लेकिन कही तो एक देहधारी मनुष्य के द्वारा ही जा रही है न, उसकी देह के ही

माध्यम से? देह न हो तो उपनिषदों की भी अभिव्यक्ति हो नहीं पाएगी। एक दैहिक, पार्थिव गुरु चाहिए न जो बैठा हो आपसे बात करने के लिए? नहीं तो मौन से, और शून्य से और निराकार से कैसे बात कर लोगे?

तो गुरु को पता है कि बहुत ऊँचे स्थान पर विराजता है वो, लेकिन उसको यह भी पता है कि अभी वो जो चुनौती उठा रहा है, जो सहायता करने का बीड़ा उठा रहा है, वह बहुत खतरों से भरा खेल है क्योंकि नीचे वाले का हाथ थाम पाने के लिए ऊपर वाले को भी कई बार झुकना पड़ता है। पहली बात — जो नीचे है, उसका हाथ थामना है तो ऊपर वाले को झुकना पड़ेगा।

और दूसरी बात — जिसका आप हाथ थाम रहे हो, उसे ऊपर उठाने के लिए—वह आसानी से तो राज़ी होता ही नहीं है ऊपर उठने के लिए और जब वह ऊपर उठने के लिए राज़ी नहीं होता तो जो झुका हुआ है, कई बार, उसे और झुकना पड़ता है।

और जो नीचे वाला है, चूँकि आप उसकी मदद करने के लिए झुक रहे हो, इसीलिए यह संभावना होती है कि नीचे वाले के अड़ियलपने पर, ज़िद पर और मूर्खता पर गुरु को क्रोध भी आ जाए, बहुत संभावना है। कहानी पूरी समझ पा रहे हो?

देखो, वेदों को कहते हैं 'अपौरुषेय'। माने वहाँ जो बात कही जा रही है, वो पार्थिव नहीं है, वो किसी व्यक्ति माने पुरुष की अपनी निजी बात नहीं है। वो बात बहुत दूर की है, बहुत आगे की है, आसमानों की है; पृथा की, पृथ्वी की है ही नहीं। तो इसीलिए वेदों को कहते हैं 'अपौरुषेय', कि वहाँ जो बात हो रही है, वो किसी इंसान की अपनी बात नहीं है, ये ऊपर से उतरी है बात।

बात उतरी भले ही ऊपर से होगी, लेकिन सामने जो शिष्य बैठा है, वह तो बड़ा ज़मीनी है न? उससे बात करने के लिए कौन चाहिए? उससे बात करने के लिए चाहिए उसी के जैसा कोई पार्थिव व्यक्ति, ज़मीनी व्यक्ति। आसमानों से कोई आयी होगी बात, अमृत-तुल्य होगी, लेकिन वो बात कही तो जाएगी इस मृत्तिका के पिंड द्वारा ही।

यह एक अजब बात है कि अमृत बरस रहा है, लेकिन किससे? मिट्टी के, मृत्तिका के पुतले से। तो एक ओर तो जो बात है, वो अमृत तुल्य है, दूसरी ओर, जो उस बात को कह रहा है, वो अभी भी मिट्टी का ही पुतला है, मिट्टी का ही पुतला है पर ऊँची चेतना रखता है।

जिसको वो समझा रहा है, उसको समझाने में बड़ा दम लगता है क्योंकि जो नीचे बैठा है, वह यूँ ही नीचे नहीं बैठा; जो नीचे बैठा है, वह मिट्टी को, ज़मीन को बिलकुल ज़िद के साथ पकड़ कर बैठा है।

तो औपनिषदिक काल से आज तक गुरुओं का यह अनुभव रहा है कि शिष्यों को समझाना आसान काम नहीं है, टेढ़ी खीर है। बहुत दफ़े ऐसा हुआ है कि शिष्य को समझाने निकला है गुरु, शिष्य तो कुछ समझा नहीं, गुरु भी अपनी समझ भूल गया; शिष्य तो ऊपर उठा नहीं, गुरु भी ऊपर से नीचे गिर गया।

तो बहुत व्यावहारिक शांति पाठ है यहाँ पर।

शांति पाठ कहता है, “ओ परमात्मा! ओ आसमानी! ओ परमपिता! तेरी बात यहाँ होने जा रही है गुरु के माध्यम से, और तेरी बात पहुँचने जा रही है शिष्य तक, तो अब तेरे ही ऊपर दायित्व है कि अपने माध्यम की भी रक्षा कर…” उसका माध्यम कौन है? गुरु। परमात्मा का माध्यम कौन है? गुरु। “…अपने माध्यम की भी रक्षा कर और अपने प्रार्थी की भी रक्षा कर।”

शिष्य की प्रार्थना है परमात्मा से, तो परमात्मा सगुण रूप में गुरु बनकर प्रकट होता है। गुरु क्या हुआ? माध्यम। शिष्य क्या हुआ? प्रार्थी।

लेकिन जो माध्यम है, भले ही वो परमात्मा का माध्यम है, लेकिन है तो—यह अब तीसरी-चौथी बार कह रहा हूँ—है तो वो पार्थिव ही न, ज़मीनी ही है। तो गुरु भी अपने-आपको किसी ग़लतफ़हमी में नहीं रख रहा है, गुरु भी शिष्य के साथ प्रार्थना कर रहा है परमात्मा से। कह रहा है, “हम दोनों को ही बचाना, क्योंकि अब यहाँ पर जो घटना घटने जा रही है, वो दोनों के लिए ही बड़ी चुनौतीपूर्ण घटना है।”

गुरु को अपनी ऊँचाई से नीचे झुकना है, और नीचे झुकना कभी भी प्रिय घटना नहीं होती। जो ऊपर आनंद की ऊँचाइयो पर बैठा है, जो अपने अकेलेपन, अपने कैवल्य को, अपने आनंद को, अपने अमृत को पा चुका है, उसको यह बहुत सुहाता तो नहीं है कि जो नीचे बैठे हुए हैं, अज्ञानी लोग, उनकी खातिर वो अपनी ऊँचाइयाँ छोड़कर नीचे आए; उनसे बात करे, उनके सामने बैठे, उनका हाथ थामे, उन्हें समझाए, उनकी नादान जिज्ञासाओं का बार-बार हल बताए, उसको बहुत अच्छा लगता नहीं है।

जो ऊपर बैठा है उसको यह नहीं अच्छा लगना कि उसे नीचे आकर के क्यों अपनी शांति भंग करनी है और जो नीचे बैठा है उसको यह नहीं अच्छा लगता कि क्यों उसको ऊपर खींचा जा रहा है।

जो नीचे बैठा है, वह किसी वज़ह से नीचे बैठा है न? क्या वज़ह है? उसको नीचे ही अब मज़ा आने लग गया है, उसने नीचे ही बसेरा कर लिया है। वह कहता है, “यहाँ नीचे ही बढ़िया मामला हमारा अब तय हो गया है, भाँति-भाँति के राग-रंग हैं, सुख हैं, सुविधाएँ हैं, नशे हैं, अंधेरे हैं, हमें उनकी आदत लग गई है।” तो वह नीचे ही प्रसन्न है।

नीचे वाले को ऊपर उठाओ तो नीचे वाले की प्रसन्नता खराब होती है, और ऊपर वाला जब नीचे वाले को उठाने के लिए नीचे आता है तो ऊपर वाले का भी आनंद टूटता है — तो क्षोभ तो दोनों में ही आना है।

गुरु को क्षोभ इस बात का लगना है कि “अच्छा-ख़ासा मैं ऊपर बैठा था शिखर की ऊँचाइयों पर, इन पगले शिष्यों के लिए मुझे बार-बार अपना आनंद खंडित करके नीचे आना पड़ता है।

और नीचे आओ तो ये कैसे-कैसे तो सवाल पूछते हैं, कैसी-कैसी ज़िद करते हैं, कैसे-कैसे बहाने और झूठ बताते हैं, मुझे ही धोखा देते हैं। मैं इनकी खातिर बार-बार नीचे आता हूँ प्रेमवश, और ये मुझसे ही चालाकियाँ करते हैं।“ तो जो गुरु है, उसको यह द्वेष पैदा हो सकता है।

शिष्य को तो द्वेष पैदा होगा ही कि “ये गुरु अपने-आपको बड़ा ज्ञानी समझता है, बार-बार हमारी ही खोट निकालता रहता है। ख़ुद तो न जाने कौन-से आसमान पर बैठा है! ज़मीन के व्यवहार का इसको कुछ पता नहीं, और नीचे आकर के हमसे अजब-गजब बातें करता है।

कहता है कि तुम्हारा ये झूठा है, इस चीज़ की नेति-नेति करो, ये छोड़ो, मोह त्यागो, बंधन त्यागो, मुक्ति में बड़े आनंद हैं। हमें ये बातें ही इसकी नहीं पसंद आतीं।“ तो शिष्य में भी द्वेष उठता है गुरु के खिलाफ़।

तो आरंभ में ही प्रार्थना की जाती है कि “हे परमात्मन्! आप हम दोनों की ही रक्षा करें, गुरु की भी, शिष्य की भी। आप हम दोनों का ही पालन करें। आप हम दोनों को ही शक्ति दें।” क्योंकि दोनों को ही शक्ति की ज़रूरत पड़ने वाली है; गुरु को भी क्रोध आने वाला है और शिष्य में भी गुरु के प्रति दुर्भावना आने वाली है।

“हम दोनों की विद्या प्रखर हो और हम दोनों एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या और द्वेष न करें। हे शक्ति सम्पन्न! हमारे त्रिविध तापों का शमन हो। अक्षय शांति की स्थापना हो।”गुरु को अपनी गुरुता बचाए हुए भी शिष्य के तल पर आना है और शिष्य को अपने तल के सुखों की परवाह न करते हुए गुरु के साथ ऊपर जाना है — चुनौती घनी है दोनों के लिए।

गुरु अगर शिष्य के तल पर आ गया पूरी तरह से तो वो गुरु कहाँ रहा? और शिष्य के तल पर आना ज़रूरी है, अगर शिष्य से संवाद करना है, अगर शिष्य का हाथ थामना है। तो गुरु की चुनौती समझो, गुरु का संकट समझो — उसको अपनी गुरुता भी बचानी है और बिलकुल शिष्य के सामने आकर भी बैठ जाना है।

क्योंकि ऊपर ही बैठा रह गया पहाड़ों पर, ऊँचाइयों पर, तो शिष्य से उसकी बातचीत ही नहीं हो पाएगी, इतनी दूरी है, उसकी आवाज़ ही नहीं पहुँचेगी शिष्य तक। नीचे आना है, फिर भी ऊपर का बने रहना है — ये गुरु की चुनौती है।

और शिष्य की क्या चुनौती है? नीचे कितना भी रस, रंग रहा हो, अब गुरु सामने आकर बैठ गया है तो कुछ ध्यान से बात समझनी होगी, और जो बात समझ में नहीं भी आए, उसके प्रति थोड़ी श्रद्धा रखनी होगी; द्वेष कितना भी उठे, संयम रखकर गुरु की बात पर भरसक अमल करने की कोशिश करनी होगी।

तो ये तो मनोविज्ञान हुआ गुरु और शिष्य के रिश्ते का जिसको शांति पाठ आरंभ में ही संबोधित कर देता है।

फिर आती है बात ताप-त्रय की। तीन तरह के ताप बताए गए हैं: आधिभौतिक, आधिदैविक और अंततः आध्यात्मिक। इनके भाँति-भाँति के अर्थ किए जाते हैं। मेरी दृष्टि में इनका जो अर्थ है, वह मैं कह देता हूँ, समझिएगा।

जो तीन कष्ट हमें सताते हैं, उनको उपनिषदों के ऋषियों ने इन तीन तरीकों से देखा था। वह कष्ट जिनका कारण आपको ज्ञात ही है, माने वह कष्ट जिनका संबंध आपके चैतन्य जगत से है, ज्ञात जगत से है, उनको कहा गया आधिभौतिक कष्ट।

माने आपको पता है कि आपको अगर तकलीफ़ हो रही है तो क्यों हो रही है। उदाहरण के लिए कोई आपका पैसा लेकर भाग गया, आपको कष्ट हो रहा है; आपका अन्न का भंडार था, चूहे आकर के आपका अन्न चट कर गए, आपको कष्ट हो रहा है।

आप जानते हो कि आपको जो तकलीफ़ हो रही है, वह क्यों हो रही है। जहाँ आपको ज्ञात कारणों से तकलीफ़ हो रही है, उस कष्ट को कहते हैं आधिभौतिक कष्ट। यहाँ पर कष्ट का कारण ज्ञात है, आप विचार कर सकते हो कष्ट के कारण के बारे में, चैतन्य रूप से आप विचार कर सकते हो — तो ज्ञात क्षेत्र में आता है कष्ट।

फिर कुछ कष्ट होते हैं जिनका कारण अज्ञात होता है, अज्ञात होता है क्योंकि आपके पास क्षमता नहीं है, आपकी इंद्रियों के पास, आपके विचार के पास, आपकी सामर्थ्य इतनी नहीं है कि आप कारण का ठीक-ठीक पता लगा सको। हालाँकि अगर आपकी क्षमता बढ़े तो आप पता लगा भी सकते हो, पर आपको अभी नहीं पता। ऐसे कारणों को कहते हैं आधिदैविक।

उदाहरण के लिए, कोरोना महामारी फैली हुई है। अभी आप ठीक-ठीक जानते नहीं हो वायरस (विषाणु) के बारे में सब कुछ, तो अभी इस वायरस के कारण आपको जो कष्ट हो रहा है, यह कहलाएगा आधिदैविक। आप कहोगे, "ये जो हो रहा है, ये दैव है, दैव।" दैव माने संयोग। लेकिन साल भर बाद आप यह नहीं कहोगे कि ये आधिदैविक है।

साल भर बाद कोरोना से आपको जो कष्ट हो रहा है, वो क्या बन जाएगा? आधिभौतिक। क्योंकि संभावना यही है कि साल भर बाद हम इतना शोध कर चुके होंगे कि हमें इस वायरस के बारे में, इसके प्रोटीन के बारे में, भीतर यह किस तरीके के एंज़ाइम (किण्वक) पैदा कर देता है, क्या प्रतिक्रियाएँ करता है, यह सब हम भली-भाँति जान चुके होंगे।

लेकिन ऐसा नहीं है कि तब हमें कष्ट नहीं होगा कोरोना से, वायरस हो सकता है तब भी रहे, कम लोगों में रहे, कम घातक हो जाए, वैक्सीन (टीका) आ जाए, लेकिन वायरस तब भी रहेगा।

तब अगर किसी को इस वायरस से कष्ट होता है तो उसको हम क्या बोलेंगे? वो आधिभौतिक कष्ट होगा। अभी वो क्या है? आधिदैविक कष्ट। इसी तरीके से अगर अचानक वर्षा हो गई या सूखा पड़ गया — ये सब कौन से कष्ट कहलाएँगे? आधिदैविक, क्योंकि इनके कारण अज्ञात हैं।

आधिभौतिक — जो ज्ञात कारणों से होते हैं, आधिदैविक — जो अज्ञात कारणों से कष्ट होते हैं।

फिर एक तीसरा कष्ट भी होता है जिसका कारण न ज्ञात है, न अज्ञात है। अज्ञात कारण भी वो है जिसका हमें पता नहीं लेकिन जिसका पता चल सकता है सैद्धांतिक तौर पर, आज नहीं तो कल हम पता लगा लेंगे कि कारण क्या था। एक कष्ट ऐसा होता है जिसका कारण पता लगने की कोई संभावना ही नहीं होती, बड़ा अबूझ, बड़ा अपरिचित होता है वो कष्ट; अज्ञेय होता है वो कष्ट, उसके कारण में जो बैठा हुआ है, उसके बारे में कुछ जाना ही नहीं जा सकता, वो कहलाता है आध्यात्मिक कष्ट।

वास्तव में अध्यात्म है ही बस उनके लिए जिन्हें आध्यात्मिक कष्ट की अनुभूति होनी शुरू हो गई हो।

भाई, तुमको आधिभौतिक कष्ट हो रहा है अगर, सिर्फ़ आधिभौतिक तल पर तुम्हारा कष्ट है, तो अध्यात्म तुम्हारी क्या सहायता कर लेगा? और तुम्हें अध्यात्म फिर चाहिए ही क्यों? यही वज़ह है कि दुनिया के ज़्यादातर लोग अध्यात्म की ओर उन्मुख नहीं होते, क्योंकि उन्हें आध्यात्मिक कष्ट होना अभी शुरू ही नहीं हुआ है।

आध्यात्मिक कष्ट क्या है? एक अजीब सा दर्द, जो बना रहता है। कोई पूछे, “क्यों है तुम्हें ये दर्द? पैसा नहीं है? सुख नहीं है? खाना नहीं है? नींद कम मिल रही है? सहूलियतें कम हैं?” तुम कहोगे, “नहीं, ये सब तो वज़हें नहीं हैं। जितना ज़रूरी है उतना पैसा है, दोस्त-यार हैं, परिवार है, घर है। ऐसी तो कोई चीज़ है नहीं जिसकी कमी हमें विशेषकर अख़रती हो।

” तो कहेंगे, “अगर सब कुछ है तुम्हारे पास, कोई तकलीफ़ है क्या, बीमारी लग गई है?” “नहीं, बीमारी तो हमें कुछ नहीं है, जवान आदमी हैं, बढ़िया, मस्त हैं।” “तो फिर तुम क्यों बेचैन, उदास रहते हो?” “नहीं, पता नहीं, पर यूँ ही बस मन बुझा-बुझा सा रहता है।“ ये आध्यात्मिक कष्ट है,

बंधन क्या है? मुक्ति क्या है?

आचार्य प्रशांत: पूरा उपनिषद् प्रश्नोत्तर के रूप में है, एक प्रश्नोत्तरी ही है ये पूरा उपनिषद्। बड़ा विशिष्ट उपनिषद् है। और हम सब, आप भी, मैं भी, बड़े सौभाग्यशाली हैं कि इस उपनिषद् श्रृंखला का आरंभ हम सर्वसार उपनिषद् से कर रहे हैं।

इससे ज़्यादा साफ़, पवित्र, सटीक, संक्षिप्त, सर्वसारीय ग्रंथ मिलना बड़ा मुश्किल होगा। और बिलकुल सही नाम है इसका, सर्वसार उपनिषद्; सब विद्या का सार इस उपनिषद् में मौजूद है।

कुछ और आप ना पढ़ें, बस सर्वसार उपनिषद् पढ़ लें, और पढ़ने से मेरा अर्थ यह नहीं है कि आपने अक्षरों पर दृष्टिपात कर लिया, पढ़ने से मेरा मतलब है कि आपने उपनिषद् का गहराई से सेवन कर लिया, पठन, चिंतन, मनन, निदिध्यासन, सब कर लिया आपने, तो आप समाधिस्थ भी हो जाएँगे फिर।

तो शुरुआत ही बिलकुल सीधे होती है, कोई दाएँ-बाएँ की, व्यर्थ की बात नहीं। प्रश्न पूछा जाता है:

कथं बन्धः कथं मोक्षः

का विद्या काऽविद्येति।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयं

च कथम्।

अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयकोशाः

कथम्।

कर्ता जीवः पञ्चवर्गः क्षेत्रज्ञःसाक्षी कूटस्थोऽन्तर्यामी कथम्।

प्रत्यगात्मा परात्मा

माया चेति कथम्। ॥१॥

“बंधन क्या है? मुक्ति क्या है? विद्या और अविद्या किसको कहते हैं? जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय, ये चार अवस्थाएँ क्या हैं? अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय कोशों का परिचय क्या है? कर्ता, जीव, पंचवर्ग, क्षेत्रज्ञ, साक्षी, कूटस्थ और अन्तर्यामी क्या हैं? प्रत्यगात्मा क्या है? परमात्मा क्या है और ये माया क्या है?”

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक १

तो इतने प्रश्न आरंभिक श्लोक में ही पूछ लिए गए हैं।“बंधन क्या है?” क्या कहता है उपनिषद्?उपनिषद् कहता है:

आत्मेश्वरजीवः अनात्मनां

देहादीनामात्मत्वेनाभिमन्यते

सोऽभिमान आत्मनो बन्धः।

तन्निवृत्तिर्मोक्षः।॥२॥

“आत्मा ही ईश्वर और जीव स्वरूप है, वही अनात्मा शरीर में अहंभाव जाग्रत कर लेता है (‘मैं शरीर हूँ', ऐसा मानने लगता है), यही बंधन है। शरीर के प्रति इस अहम् भाव से मुक्त हो जाना ही मोक्ष है।”

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक २

बंधन क्या है? देह भाव ही बंधन है।

आत्मा एकमात्र और अनादि, अनंत सत्य है। अहम् की लेकिन रुचि आत्मा में नहीं होती, अहम् की रुचि आत्मा के विविध रूपों में होती है। सब रूप आत्मा के कहलाते हैं ‘संसार’, और उस संसार का भोक्ता होने के लिए अहम् सबसे ज़्यादा रुचि दिखाता है जिस वस्तु में, उसको कहते हैं ‘देह’। तो अहम् प्रेम भले ही आत्मा से करता है, पर वो बड़ा गहरा और गुपचुप प्रेम है, रुचि तो वो देह में ही रखता है। इन दोनों बातों को समझना।

रुचि और प्रेम बहुत अलग-अलग चीज़ें हैं, इंटरेस्ट (रुचि) और लव (प्रेम) एक नहीं होते। अहम् का प्रेम है आत्मा, लेकिन अहम् की रुचि है अनात्मा में। अखिल दृश्यमान विश्व ही अनात्मा मात्र है। इस विश्व में द्वैतात्मक प्रक्रिया से अहम् किसके साथ तादात्म्य स्थापित करता है? देह के साथ।

अहम् को चाहिए तो यह पूरा विश्व ही, पर इस विश्व में वो द्वैतात्मक खेल खेलता है, कहता है, “विश्व के साथ तो रिश्ता तो मैं रखूँगा ही, पर वो रिश्ता द्वैत का होगा।” कैसे? उस रिश्ते में एक विषय होगा और एक विषयी होगा। अहम् ख़ुद क्या बन जाता है? विषयी। अहम् देह धारण कर लेता है और संसार से वो रिश्ता रखता है संसार को विषय बना करके। तो रिश्ता उसने दोनों से रख लिया, किनसे? देह से भी और संसार

से भी। पर इस रिश्ते में दोनों के नाम अलग-अलग हैं, संसार का नाम है 'विषय' और देह का नाम है 'विषयी', या 'मैं', या 'स्वयं' या 'अहम्'।

और ये सारा खेल खेल रहा है जब अहम्, तो इस दौरान उसे वास्तव में प्रेम किससे है? प्रेम है आत्मा से। और खेल खेल रहा है वो संसार में। और संसार में जब वो खेल रहा है, वो यह भी नहीं समझ रहा कि जिस आत्मा से वो प्रेम करता है, उसी आत्मा की माया है संसार, उसी आत्मा की अभिव्यक्ति है संसार।

संसार में ही अगर तुमको रुचि हो, तो बहुत गहरी और जिज्ञासु रुचि रख लो तो भी आत्मा तक पहुँच जाओगे।

ऐसा भी नहीं करना है कि संसार को छोड़ करके अपने प्रेम माने आत्मा की ओर जाना है। तुम्हें दोतरफ़ा लाभ हो सकता है, तुम्हें संसार के साथ ही आत्मा प्राप्त हो सकती है। जानने वालों ने तो यहाँ तक कहा है कि "आत्मा प्राप्त करने के लिए संसार के अलावा और कोई ज़रिया ही नहीं है, और कोई माध्यम है नहीं आत्मा तक पहुँचने का संसार के अलावा।"

और माध्यम है कौन सा? अहम् जहाँ रह रहा है, उसको क्या कहते हैं? संसार। तो अहम् के पास और कोई विकल्प है संसार के अलावा? तुमसे मैं कह दूँ कि जाओ कहीं चले जाओ ऐसी जगह जो संसार से बाहर की हो, जा सकते हो? तुम्हारे पास संसार के अतिरिक्त वैसे भी कोई विकल्प नहीं है, तुम्हें आत्मा इसी संसार में पानी है। हाँ, बस यह है कि इसी संसार में मूर्खों की तरह जिओगे तो कष्ट पाओगे, और ध्यान से जिओगे, समझदारी से जिओगे, विवेक से निर्णय किया करोगे तो आत्मा पाओगे।

मूर्खतापूर्ण जीवन जीना ही बंधन है। और विवेकपूर्वक आत्मा का चुनाव करना, सत्य का चुनाव करना, हृदय का चुनाव करना ही मुक्ति है।

जैसे उपनिषद् ने आरंभ में ही अंतिम बात कह दी हो। जैसे पहले प्रश्न में ही सब जिज्ञासाओं का समाधान कर दिया गया हो। बंधन क्या है? मुक्ति क्या है? देह से आसक्त रहना, देह से तादात्म्य बैठाना और सम्पूर्ण जगत का भोक्ता बनना — यही है बंधन। और देह के और संसार के खेल को पूरी तरह पहचानना, इस खेल को खेल ही जानना और इस खेल में फल की किसी भी लिप्सा से मुक्त रहना — यही मोक्ष है। इसके अलावा ना कोई बंधन है और ना कोई मुक्ति है।

विद्या और अविद्या किसको कहते हैं?

आचार्य प्रशांत: फिर क्या पूछा है? "विद्या और अविद्या किसको कहते हैं?" तो बड़ा सारगर्भित और संक्षिप्त उत्तर देता है उपनिषद्:

या तदभिमानं कारयति सा अविद्या।

सोऽभिमानो यया निवर्तते सा विद्या। ॥३॥

"अहम्-भाव की जन्मदात्री अविद्या है और जिसके द्वारा अहम्-भाव समाप्त हो जाए, वही विद्या है।"

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक ३

जिससे अहम्-भाव जन्म ले, वो है अविद्या, और जिससे अहम्-भाव समाप्त हो जाए, वो है विद्या। ध्यान से समझेंगे।

देखिए, इस पर बड़ा संशय रहा है और बड़े तरीकों से विद्या और अविद्या की परिभाषा करने की कोशिश की गई है। मेरी दृष्टि जहाँ तक जाती है, वो मैं कहता हूँ।

दो तरह का ज्ञान हो सकता है: एक ज्ञान वो जिसमें मात्र विषय की, जो दिखाई पड़ रहा है, जो ऑब्जेक्ट (वस्तु) है, उसकी बात होती है, उसको कहते हैं अविद्या। ठीक है?

और वो ज्ञान जिसमें आप न सिर्फ़ विषय को बल्कि विषेयता को भी देख रहे हो, न सिर्फ़ ऑब्जेक्ट को बल्कि सब्जेक्ट को भी देख रहे हो, उसको कहते हैं विद्या। समझ रहे हो बात को?

अंग्रेज़ी में जिसे हम नॉलेज (ज्ञान) कहते हैं, वो वास्तव में सिर्फ़ विद्या के लिए उपयुक्त हो सकता है, ज्ञान। तो अविद्या के लिए क्या उपयुक्त होगा?

अविद्या के लिए उपयुक्त होता है निष्यन्स (अज्ञानता)। है वो एक तरह का ज्ञान ही, उसमें भी आप सूचना और जानकारी इकट्ठा कर रहे हो, पर शास्त्रीय संदर्भ में उसको हम नॉलेज भी नहीं कहेंगे, उसको हम कहेंगे निष्यन्स।

ज्ञान वास्तव में सिर्फ़ तब है जब आप दृश्य के साथ-साथ दृष्टा की भी चर्चा करो। जब आप ये तो कहो ही कि क्या हुआ, साथ ही ये भी बताओ कि किसके साथ हुआ। ये तो बताओ ही कि क्या देखा, ये भी बताओ कि देखने वाला कौन था। दोनों को एक साथ बता दिया तो ये क्षेत्र हुआ विद्या का, ज्ञान का, नॉलेज का। और अगर बस ये बताया कि क्या देखा तो ये फिर क्षेत्र हुआ अविद्या का, अज्ञान का और निष्यन्स का। तो अविद्या ज्ञान का अभाव नहीं होती, अविद्या ज्ञान का अधूरापन होती है।

अविद्या खंडित ज्ञान को कहते हैं। अविद्या उस ज्ञान को कहते हैं जहाँ ज्ञानी अपनी ओर से बिलकुल अनभिज्ञ, अपरिचित, बेख़बर होता है।

ज्ञानी महाराज निकले हैं ज्ञान इकट्ठा करने के लिए, पर ज्ञान के नाम पर वो बस क्या इकट्ठा कर रहे हैं? “ये खंभा कितना ऊँचा है? वहाँ हवा कैसी चल रही है? वहाँ लोग कितने बैठे हुए हैं? उस फ़ैक्टरी में क्या बन रहा है? ये सड़क कहाँ तक जाती है?” और इन सब बातों को वो किस चीज़ का नाम दे रहे हैं? ज्ञान का।

इन सब बातों में कौन सी चीज़ है जिसका वो नाम भी नहीं ले रहे? अपना नाम नहीं ले रहे, अपना नाम नहीं ले रहे बिलकुल। ये नहीं बता रहे वो कि तुम्हारी इतनी रुचि क्यों है उस सड़क की लंबाई गिनने में और तुम किस चीज़ के भूखे हो जो उस फ़ैक्टरी की ओर बार-बार पूछ रहे हो, "क्या बनता है इसमें, क्या बनता है इसमें?" और तुम्हें वहाँ कौन भा गया है जो बार-बार पूछ रहे हो, "वो लोग कौन हैं, कहाँ से आए हैं, किस परिवार के हैं, किस घर के हैं, कब तक रहेंगे, कब जाएँगे?"

तुम अपना भी तो कुछ हाल बताओ। क्योंकि यूँ ही तो तुम्हें किसी चीज़ में रुचि नहीं हो जाती है। या हो जाती है? कभी ऐसा हुआ है कि तुमने कहा है कि "मुझे सब कुछ बताओ"? कभी तुम्हारे पास कोई ये सवाल लेकर आया है, "मुझे सब कुछ बताओ"?

तुम यूँ ही खड़े हुए हो कहीं सड़क पर और तुम्हारे पास एक आदमी आता है, बोलता है, "साहब, एक सवाल है।" तुम कहते हो, "क्या?" वह कहता है, "सब कुछ बताइए।" कभी हुआ है ऐसा? कभी हो भी सकता है ऐसा? तुम जब भी कुछ पूछते हो, तुम 'कुछ' पूछते हो न? कुछ पूछने का मतलब क्या है?

तुम चुनाव करते हो कि तुम्हें किस बारे में जानकारी चाहिए, रुचि अनुसार। तो माने तुम जो प्रश्न पूछ रहे हो, वो वास्तव में बाहर की चीज़ से संबंधित कम है, तुमसे संबंधित ज़्यादा है। सामने एक आदमी बैठा हुआ है और उसके बगल में एक चींटा बैठा हुआ है। चींटे पर तो तुम ध्यान भी नहीं दे रहे, आदमी के बारे में सौ बातें पूछ रहे हो। चींटे के बारे में काहे नहीं पूछी? ज़रूर उस आदमी से तुम्हारा कुछ स्वार्थ का नाता है।

लेकिन सवाल तुम ऐसे पूछ रहे हो जैसे कि तुम्हारी ओर से सब ठीक-ठाक है, सवाल बस उसके ऊपर है। तुम्हारी ओर से सब ठीक-ठाक होता तो तुम्हारा प्रश्न इतना सीमित क्यों होता? फिर तो तुम्हारा प्रश्न भी बड़ा विस्तृत होता न?

प्रश्न में तो कोई विस्तार लेकिन होता ही नहीं है। बड़े-से-बड़े प्रश्न भी होते तो एक दायरे के अंदर ही हैं। कोई प्रश्न अगर अतिविस्तृत हो गया तो उसका उत्तर ही नहीं दिया जा सकता। या दिया जा सकता है?

फिज़िक्स (भौतिक विज्ञान) भी अभी तक परेशान है। जीयूटी नहीं निकल कर आ रही है, ग्रैंड यूनिफाइड थिअरी ऑफ एवरीथिंग (अस्तित्व का सकल एकीकृत सिद्धांत)। छोटी-छोटी चीज़ों के सिद्धांत तो मिल जाते हैं, शॉर्ट फील्ड फोर्सेस (लघु क्षेत्र बल) पता हैं, लॉन्ग रेंज फोर्सेस (दीर्घ क्षेत्र बल), वो भी पता हैं। इस डोमेन (क्षेत्र) में कौन सी परिभाषाएँ काम करेंगी, ये भी पता है। पर ऐसा कोई सिद्धांत निकल कर ही नहीं आ रहा जो सार्वभौमिक हो, जो यूनिवर्सल हो। ऐसा सवाल पूछना ही बहुत मुश्किल है जो सब कुछ समझा दे तुम्हें उत्तर में अपने।

हम वही सवाल पूछते हैं जो सवाल हमारे भीतर की किसी रिक्तता का प्रतिबिंब होता है। किसी आदमी को जानना है तो यह देख लो कि उसके सवाल कैसे हैं। किसी आदमी को जानना है और वह अपने बारे में तुम्हें बताने में ज़रा भी उत्सुक नहीं है — मान लो मैं इनसे मिलूँ, इनसे कहूँ, "अपने बारे में कुछ बताइए।" और ये बिलकुल एकदम मुँह को बंद करके सामने खड़े हो जाएँ।

अब ये एक बंद कमरे की तरह हो गए हैं जिस पर ताला लगा हुआ है; ये कुछ अपने बारे में राज़ खोलना ही नहीं चाहते। तो राज़ खुलवाने का एक सीधा तरीक़ा बता देता हूँ, उनसे कहिए, "ठीक है। आप अपने बारे में कुछ मत बताइए। आप मुझसे मेरे बारे में दस सवाल पूछ लीजिए।" इन्हें लगेगा कि ये तो मामला ठीक है। अपने बारे में कुछ बताना नहीं है। इसके बारे में दस सवाल पूछने हैं। वो आपसे आपके बारे में जो दस सवाल पूछेंगे, उससे उनके बारे में आपको सब कुछ पता चल जाएगा।

तुम्हारे सवालों में तुम्हारे दिल का हाल छुपा होता है। तुम्हारे सामने कोई शेर हो, तुम उससे कहो, "मेरे बारे में क्या जानना चाहते हो?" तो वो तुमसे ये थोड़े ही पूछेगा कि आईसीएससी से हो कि सीबीएससी से। वो

तुमसे यही पूछेगा, "कितने किलो के हो?" शेर के सवाल से तुम्हें शेर के इरादों की भनक लग जाएगी। लग जाएगी कि नहीं लग जाएगी?

तो किसी आदमी के बारे में जानना हो तो उससे जवाब माँगने ज़रूरी नहीं हैं, उसके सवाल सुनने ही काफ़ी हैं। सवाल देखते ही पता चल जाता है कि ये आदमी कौन है।

तुम लोग कई बार मुझसे कहते हो न कि "आचार्य जी, आप तो कई बार सामने वाले का सवाल ही नहीं पूरा होने देते। लगता है आपने सवाल ठीक से सुना भी नहीं।" क्या सुनूँ उसके सवाल के विस्तार को, जब मैंने उसके सवाल का स्रोत ही देख लिया उसकी शकल में?

आपका सवाल किसी विषय के बारे में नहीं होता। अगर सुनने वाला सुन सकता है तो आपका सवाल बताता है कि आप कौन हैं।

साल पहले करीब जब कॉलेजों में खूब बोला करता था तो वहाँ पर संवाद के दो सत्र हुआ करें, एक सुबह और एक दोपहर। सुबह वाला अक्सर होता था दस बजे से बारह बजे तक और फिर दोपहर में होता था दो बजे से चार बजे तक। तो कुछ ऐसे भी होते थे उत्सुक छात्र, बहुत कम, जो सुबह वाले सत्र में बैठे हैं और उनको इतना मज़ा आने लगे लड़कों को कि वो दोपहर में भी फिर आकर बैठ जाएँ, अपनी क्लास छोड़कर।

तो ऐसे ही एक रहा होगा। तो सुबह वाले सत्र में बैठा, वहाँ उसने सुना। फिर दोपहर में बैठा, वहाँ उसने सुना। फिर उसके बाद मैं अलग से जाकर आधे घंटे के लिए कहीं पर कैंटीन में या अपने कमरे में जाकर बैठ जाता था कि अभी भी किसी को कुछ पूछना हो तो मुझसे वहाँ आकर पूछ सकता है। तो वो वहाँ आ गया, वहाँ बोलता है, "मैं सुबह भी बैठा, दोपहर भी बैठा। बिलकुल एक ही सवाल सुबह आया था। आपने उसका एकदम अलग जवाब दिया और बिलकुल वही सवाल दोबारा आया था, उसका आपने बिलकुल अलग जवाब दिया।"

मैंने कहा, "सवाल क्या था?" बोलता है, "सुबह भी पूछा गया था 'व्हाट इज़ फ्रीडम?' (आज़ादी क्या है?), और आपने बहुत सहानुभूतिपूर्वक और बड़े प्रेम से बड़ी देर तक समझाया कि व्हाट इज़ फ्रीडम। और यही दोपहर के सत्र में एक लड़के ने पूछा था 'व्हाट इज़ फ्रीडम?' और आपने उसको डपट ही दिया। क्या बात है, दोपहर में तापमान ज़्यादा हो गया था या बात क्या है?"

मैने कहा कि बेटा, याद है सुबह के सत्र में जिसने पूछा था 'व्हाट इज़ फ्रीडम', वह एक दबी-सहमी लड़की थी और चिड़िया जैसी उसकी आवाज़ भी नहीं खुल रही थी। उस लड़की ने, बेचारी ने बड़ी हिम्मत जुटाकर के धीरे-से ऐसे हाथ खड़ा करके पूछा था, "व्हाट इज़ फ्रीडम?" उसके मायने बहुत अलग थे सवाल के, वह सवाल उसके बारे में बहुत कुछ बता रहा था।

सवाल सिर्फ़ शब्दों से अभिव्यक्त नहीं होता न, तुम्हारी आँखों से, तुम्हारे चेहरे से भी अभिव्यक्त होता है। सब पता चल जाता है तुम्हारे बारे में। वो जो पूछ रही थी, "आज़ादी क्या है?", तो वो वास्तव में पूछ रही थी आज़ादी कुछ होती भी है? क्या मुझे मिल सकती है? तो उसको मैंने सहारे से, सहानुभूति से समझाया। और दोपहर में जिसने पूछा था, वह था उजड्ड, तुम्हारे कॉलेज का लोफ़र। जब वो पूछ रहा था "व्हाट इज़

फ्रीडम?" तो वास्तव में वो मुझे बता रहा था कि मुझे फ्री (आज़ाद) कर दो। तो फिर मैंने उसके साथ वही बर्ताव किया जो उसके लिए हितकर था।

आपका सवाल सिर्फ़ सवाल नहीं है। सवाल के पीछे सवाल करने वाला बैठा हुआ है न? प्रश्न के पीछे प्रश्नकर्ता बैठा हुआ है, उसको उत्तर देना बहुत ज़रूरी होता है।

विद्या और अविद्या यहीं से समझ लो। अविद्या इसीलिए इतनी फैली हुई है क्योंकि अविद्या में सुरक्षा है। क्या सुरक्षा है? अविद्या में कोई तुमसे यह नहीं पूछने वाला, "तुम कौन हो, तुम कैसे हो?" तुमसे बस यह पूछा जाएगा कि तुम्हारे पास डिग्रियां कौन-कौन सी हैं। तुमने क्या-क्या अर्जित करा ज्ञान, यह पूछा जाएगा। यह अविद्या का क्षेत्र है। तुमसे कोई यह नहीं पूछेगा, "तुम कौन हो? अपना हाल-चाल बताओ। कहाँ से आए, कहाँ को जाना?" यह कोई नहीं पूछेगा।

इसीलिए तुम पाते हो कि इतनी संस्थाएँ हैं जो अविद्या का प्रसार कर रही हैं। हमारी सारी जो व्यवस्था है, हमारे कॉलेज हैं, स्कूल हैं, हमारे विश्वविद्यालय हैं, ये वास्तव में अविद्या के केंद्र हैं, ये अविद्यालय हैं।

विद्या क्या है फिर?

विद्या तब है, जैसा हमने कहा, जिसमें दृष्टा, दृश्य दोनों की बात एक साथ हो। 'तुम कौन हो', यह ज़रूर जब पूछा जाए, मात्र तब है विद्या।

क्या विद्या और अविद्या के आगे भी कुछ होता है? नहीं।

अध्यात्म विद्या ही है। बस अध्यात्म में ज्ञान के साथ-साथ एक आकांक्षा भी है। क्या आकांक्षा? मुक्ति।

अध्यात्म विद्या ही है जिसमें आप अहम् को सिर्फ़ जानना नहीं चाहते, जिसमें आप अहम् का सिर्फ़ ज्ञान ही नहीं लेना चाहते, आप अहम् से मुक्ति भी चाहते हो। वास्तव में वह मुक्ति की इच्छा ज्ञान से पहले ही आती है, नहीं तो आप अहम् का ज्ञान लोगे नहीं। क्योंकि अहम् का ज्ञान लेना कोई सुख की बात नहीं होती। सुख तो अविद्या में ही है।

एक बच्चा भी पैदा होता है, कभी देखा है वो बार-बार क्या पूछता है? (आचार्य जी पेन उठाकर बच्चे की नकल करते हुए) ये ऐसे उठाएगा, पूछेगा ऐसे, "जे (ये) क्या?"

कभी कोई बच्चा ऐसे पूछता है? (स्वयं की ओर इशारा करते हुए) "जे क्या है?" उसको बड़ा सुख मिलता है। कोई भी चीज़ उठाकर के पूछेगा, "जे क्या है?" और फिर उसको तोड़ देगा, फिर अंदर से ऐसे इसकी रिफिल निकाल लेगा, "जे क्या है?" और फिर ये लेगा, इसको पटक देगा, "जे क्या है?"

सुख है। बच्चे को भी बड़ा सुख मिलता है। और वो जब इधर-उधर तोड़ रहा हो, फोड़ रहा हो और पूछ रहा हो, "जे क्या है, जे क्या है?", तुम उसका तोड़ना-फोड़ना रोक दो, उसके हाथ से चीज़ें छीन लो तो वो रोने भी लगेगा क्योंकि उसका सुख छिन गया। पर कोई बच्चा नहीं पूछता है कि माँ को पकड़ लिया और कह रहा है, "जाने नहीं दूँगा। पहले बता मैं कौन हूँ?" ये कोई बच्चा नहीं पूछता क्योंकि विद्या में सुख नहीं है। विद्या तो छटपटाहट से, दुःख से, तड़प से ही निकलती है। सुख उसमें मिलेगा कहाँ से!

विद्या-अविद्या में बस इतना ही संबंध है कि जब अविद्या बहुत दुःख दे लेती है तो व्यक्ति को मजबूर होकर विद्या की ओर मुड़ना पड़ता है, कि इतनी अविद्या हासिल कर ली, जितनी पाते जा रहे हैं, माथे पर बोझ उतना ही बढ़ता जा रहा है, चैन कहीं नहीं मिल रहा। तब व्यक्ति को विवश होकर के विद्या की ओर मुड़ना पड़ता है। तो इसीलिए अध्यात्म को 'ब्रह्मविद्या' भी कहते हैं। क्या कहते हैं? ब्रह्मविद्या भी कहते हैं।

विद्या सच्चा ज्ञान है और ऐसा ज्ञान है जिसमें ज्ञान के साथ-साथ अभिलाषा है मुक्ति की। तो ये है विद्या और अविद्या।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय – ये चार अवस्थाएँ क्या हैं?

मन आदिचतुर्दशकरणैः

पुष्कलैरादित्याद्यनुगृहीतैः शब्दादीन्विषयान्-

स्थूलान्यदोपलभते तदात्मनो जागरणम्।

तद्वासनासहितैश्चतुर्दशकरणैः

शब्दाद्यभावेऽपि वासनामयाञ्छब्दादीन्यदोपलभते

तदात्मनः स्वप्नम्।

चतुर्दशकरणो परमाद्विशेषविज्ञानाभावाद्यदा

शब्दादीन्नोपलभते तदात्मनः सुषुप्तम्।

अवस्थात्रयभावाभावसाक्षी स्वयंभावरहितं

नैरन्तर्यं चैतन्यं यदा तदा तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते। ॥४॥

"देवों की शक्ति द्वारा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और दस इन्द्रियाँ- इन चौदह करणों द्वारा आत्मा जिस अवस्था में शब्द, स्पर्श, रूप आदि स्थूल, विषयों को ग्रहण करती है, उसको आत्मा की जाग्रतावस्था कहते हैं। शब्द आदि स्थूल विषयों के न होने पर भी जाग्रत स्थिति के समय बची रह गई वासना के कारण मन आदि चतुर्दश करणों के द्वारा शब्दादि विषयों को जब जीव ग्रहण करता है, उस अवस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं। इन इन्द्रियों के शांत हो जाने पर जब विशेष ज्ञान नहीं रहता और इन्द्रियाँ शब्द आदि विषयों को ग्रहण नहीं करतीं, तब आत्मा की उस अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति और लय का ज्ञाता और स्वयं उद्भव और विनाश से सदैव परे रहने वाला जो नित्य साक्षी भाव में स्थित चैतन्य है, उसी को तुरीय चैतन्य कहते हैं, उसकी इस अवस्था का नाम ही तुरीयावस्था है।"

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक ४

आचार्य प्रशांत: अब आते हैं अगले प्रश्न पर, "जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय – ये चार अवस्थाएँ क्या हैं?"

इसका जो शास्त्रीय तरीका है बताने का, शुरुआत वहाँ से करेंगें। दस तो मानी गईं हैं इंद्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेंद्रियाँ। और उसके अलावा होता है अन्तःकरण। अन्तःकरण क्या? अन्तःकरण चतुष्टय, जिसमें चार आते हैं। कौन से चार? जो अंदर के हैं। इंद्रियाँ वो जो सीधे-सीधे बाह्य जगत से संपर्क रखती हैं। और अन्तःकरण चतुष्टय में वो आते हैं चार जो अंदर-अंदर बैठे हैं, जो सीधा संबंध नहीं रखते बाहरी जगत से। वो चार क्या हैं? मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। ठीक है?

तो इनको आधार बना करके चेतना की इन तीन अवस्थाओं की विवेचना की जाती है। जाग्रत् अवस्था वो है चेतना की जिसमें ये चौदहों सक्रिय हैं; जहाँ ये चौदहों सक्रिय हैं, वो अवस्था मानी गई जागृति की। चौदहों सक्रिय माने — आँखें कुछ भीतर ला रही हैं, जो भीतर आ रहा है वो स्मृति के द्वारा एक नाम पा रहा है, चित्त उसको पुराने अनुभवों से जोड़कर देख रहा है, अहंकार उसके साथ संबंध बना रहा है और मन उसका उपयोग करके विचार और कल्पनाएँ कर रहा है।

चौदहों सक्रिय हैं जाग्रत् अवस्था में। कुछ आया तुम्हारे भीतर तुम्हारी त्वचा के स्पर्श से, तुम्हारे कानों में पड़े शब्द से; रंग, रूप, रस, गंध, शब्द, इंद्रियों के ये सब जो विषय होते हैं, तो ये सब विषय इंद्रियों के द्वारा भीतर प्रवेश कर रहे हैं। और भीतर जो यंत्र काम कर रहा है, वो इस भीतर आयी जानकारी पर, इस भीतर आए डेटा (आँकड़े) पर कुछ कार्यवाही करके किसी तरीके का कोई उत्पाद तैयार कर रहा है, जिसके द्वारा फिर जीव कुछ अनुभव करता है और कर्म करता है। ये जाग्रत् अवस्था हुई।

ये जो जीव है, इसका अहंकार अगर अनुभवों से बहुत लिप्त है और अनुभवों के फल का बड़ा लोभी है, तो फिर ये जो अहंकार है, ये इस बात की भी प्रतीक्षा नहीं करता कि बाहर से कुछ माल-सामग्री आए तो मैं उसके साथ संबंध बनाऊँ, तो मैं उस पर कुछ प्रक्रिया करूँ। वो अहंकार फिर कहता है, "बाहर से सामग्री नहीं भी आ रही, हम तो भी कल्पना का इस्तेमाल करके कुछ-न-कुछ माल तैयार कर लेंगे।" इस अवस्था को कहते हैं स्वप्नावस्था।

जागृति में तो अनुभव लेने के लिए आवयश्क है कि तुम्हारे सामने कोई खड़ा हो। मान लो तुम पैसे के पुजारी हो, तो जागृति में पैसे से संबंधित अनुभव तुम्हें कब होगा? जब आँखें कम-से-कम पैसे को देखें, हाथ पैसे को छुए, कानों में पैसों से संबंधित कुछ बातचीत पड़े। जागृति में अनुभव लेने के लिए इंद्रियों का सक्रिय सहयोग आवश्यक है।

इंद्रियों की सक्रियता आवश्यक है, है न? स्वप्न में? स्वप्न में तो तुम्हें इंद्रियों की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। तुम्हारा अहंकार इतना लिप्त हो चुका है भोग से कि वो कहता है कि "आँखों से मुझे धन दिखाई पड़ रहा हो चाहे न दिखाई पड़ रहा हो, मैं तो साहब कल्पना कर लूँगा और कल्पना कर-करके ही अनुभव के मज़े लूट लूँगा", जो कि आपके साथ नींद में होता है।

नींद में आपको दिखाई तो कुछ नहीं पड़ रहा, लेकिन आप प्रतीक्षा भी नहीं करते कि दिखाई पड़े तो भोगूँ, आप कहते हैं, "नहीं भी दिखाई पड़ रहा, मैं तब भी भोग लूँगा, मैं तो बड़ा चालाक हूँ, मैं तो स्मृति का सहारा लूँगा।" चित्त क्या होता है? स्मृति का घर। "मैं तो स्मृति का सहारा लूँगा और मैं मन का सहारा लूँगा।" मन क्या होता है? कल्पना का घर। स्मृति के आधार पर कल्पना की जा सकती है।

आपको किसी चीज़ का पूर्व अनुभव हो, वो क्या बन जाता है? स्मृति। और उस पूर्व अनुभव को ही आप नया रूप, रंग, कलेवर, आकार दे करके क्या बना लेते हैं? कल्पना। ये स्वप्नावस्था है, जिसमें आप चित्त में संग्रहित सामग्री का इस्तेमाल करके अपने-आपको सुख देने वाली या किसी तरह के अनुभव देने वाली कल्पनाओं का निर्माण कर लेते हैं। उन कल्पनाओं को ही कहा जाता है स्वप्न।

तो आप जो स्वप्न ले रहे हैं, वो वास्तव में आपकी अनुभव-लोलुपता के प्रदर्शक हैं। हम अनुभव के ऐसे भूखे हैं कि दिन के जगते हुए सोलह घण्टों में हमें जो अनुभव हुए, वो हमें पूरे नहीं पड़े, हम कहते हैं, "अभी और अनुभव चाहिए।" वो अनुभव कुछ भी हो सकते हैं, ज़रूरी नहीं है कि वो सीधे-सीधे, प्रत्यक्ष तौर पर सुख के ही अनुभव हों। लोग सपनों में डरते भी हैं।

लोगों को सपनों में ये भी दिखाई दे जाता है कि उनकी मौत हो गई, या कोई नुकसान हो गया या वो किसी ऊपर इमारत से गिर पड़े हैं नीचे। लेकिन आपको भले ही सपनों में डर का अनुभव हो रहा हो, अनुभव तो हो रहा है न? तो सपने लेना यही दिखाता है कि आपमें अनुभव-लोलुपता बहुत है। आपके भीतर जो अनुभोक्ता बैठा हुआ है, अहम्, वो संतुष्ट ही नहीं हो रहा, वो कह रहा है, "अभी और चाहिए। मुझे अनुभव कराओ, एक्सपीरिएंस कराओ।"

देखा है न, लोग पागल रहते हैं। कोई पूछता है कि, "जीवन किसलिए है?" तो कहते हैं, "जीवन अनुभव लेने के लिए है। अभी मुझे पाँच-सात और तरीके के अनुभव लेने हैं।" अब मान लो ये जो तुम्हें अनुभव लेने हैं, जाग्रत् अवस्था में इनको पाने की कीमत चुकाने का तुममें सामर्थ्य ही ना हो तो तुम क्या करोगे?

भाई, आप अनुभव लेना चाहते हो कि आपने जा करके चाँद पर छलाँग लगा दी है; आप एस्ट्रोनॉट (अंतरिक्ष-यात्री) हो, आप रॉकेट में बैठकर गए हो और आप चाँद पर कूद रहे हो। आपकी बड़ी इच्छा है कि आप ये अनुभव लो, पर ना आपकी रॉकेट पर बैठने की योग्यता है, ना चाँद पर छलाँग लगाने की पात्रता है, तो वो मौका तो आपको ज़िंदगी में मिलने से रहा। तो फिर आप एक चतुर तरीका क्या निकालोगे?

सपना ले लोगे, कहोगे, "अनुभव ही तो लेना था, लंबा-चौड़ा पैसा खर्च करके और मेहनत करके कौन अनुभव ले? आँख बंद करो, सो जाओ और 'आलालाला', चाँद पर पहुँच गए लाला।" तो सपने एक तरह की चतुराई है, उसको चतुराई भी कह सकते हो, और विवशता भी कह सकते हो, और नादानी और अज्ञान भी कह सकते हो, जो कहना चाहो।

अब आते हैं तीसरी अवस्था पर, जिसको क्या बोलते हैं? सुषुप्ति। सुषुप्ति भी अवस्था तो निद्रा की ही है, पर इस अवस्था में कुछ और होता है, इसमें तुम्हें सपने भी नहीं आ रहे होते। और कहा गया है कि सुषुप्ति का जो आनंद होता है, वो तो सपनों से भी आगे का होता है। जाग्रत् में आप सुख ढूँढ रहे होते हो संसार में, स्वप्न में आप सुख का निर्माण कर रहे होते हो कल्पनाओं से और सुषुप्ति में सुख का निर्माण भी नहीं करना पड़ता, आप बिना किसी विषय का उपयोग करे ही सुख भोग रहे होते हो।

तो सुषुप्ति क्या है? सुषुप्ति वो अवस्था है जिसमें आनंद अहम् को 'अपने होने' से ही आ जाता है; अहम् को अब किसी विषय की ज़रूरत नहीं है, वो अपना ही आनंद ले रहा है, उसे कोई कल्पना भी नहीं करनी है, वो अपनी ही बेहोशी में डूब गया है, अब वो विषयों से रिक्त हो गया है। एक तरीके से ये समाधि के पास की अवस्था है और दूसरी दृष्टि से देखो तो ये गहरा और मूल अंधकार और अज्ञान है, ये दोनों ही बातें सुषुप्ति पर लागू होती हैं।

जब व्यक्ति के, मनुष्य के अस्तित्व को कोशों के द्वारा निरूपित किया जाता है तो उन कोशों के बिलकुल केंद्र पर जो बैठी होती है, उसे कहते हैं आत्मा। और उस आत्मा के जो निकटतम है, उसको कहते हैं आनंदमय-कोश। उसी आनंदमय-कोश का संबंध सुषुप्ति से है। तो एक तरफ़ तो ये जो सुषुप्ति है, ये आत्मा के निकटतम है, दूसरी ओर, ये जो सुषुप्ति है, वो सबसे बड़ा झूठ भी है और सबसे बड़ा नशा भी है, क्योंकि आपको आनंद की प्राप्ति हो गई है बिना मुक्ति के ही, बिना साधना के ही।

ये आनंद तो है पर झूठा आनंद है, और झूठा इसलिए है क्योंकि इसमें नित्यता नहीं है, ये टूटेगा। ये आपको थोड़ी देर के लिए सब दुखों से तो मुक्त कर देता है, पर अभी कोई आएगा, आप सो रहे हो, गाल पर चपत लगाएगा, या हो सकता है बस ज़ोर से आपका नाम लेकर आपको आवाज़ दे दे, और ये आनंद छूमंतर हो जाना है।

तो आनंद मिला तो, पर बड़ा अनित्य था, बड़ा झूठा था। कुछ इस आनंद ने बताया तो, कुछ इशारा तो किया, पर चला नहीं, टिका नहीं। और जो अनंत ना हो, उसको सच्चा कैसे मानें? जो आया ही इसलिए हो कि छोड़कर चला जाए, उसका भरोसा क्या करें? दूसरी ओर, वो छोडकर भले ही चला गया, पर थोड़ी देर के लिए ही सही, स्वाद तो दे गया; ये तो बता गया कि रोज़मर्रा के, जागृति के और स्वप्न के, सुख-दु:ख और तनाव के आगे, गहरी राहत की भी कोई अवस्था की संभावना है।

तो सुषुप्ति में आपको जो गहरे आनंद का अनुभव होता है—और अनुभव तो होता ही है, गहरी नींद लेकर के आप उठते हो तो कहते नहीं हो, “बड़ी गहरी नींद आयी। आहाहा! बड़ा ताज़ा अनुभव हो रहा है”? कहते हो कि नहीं? तो सुषुप्ति में आपको जो गहरे आनंद का अनुभव होता है, वो आपके लिए अच्छा भी हो सकता है, बुरा भी हो सकता है।

अच्छा ऐसे है कि उसने आपको बता दिया कि तनाव ज़रूरी नहीं है, उसने आपको तरो-ताज़ा कर दिया है, वो आपको बता गया है कि आप जैसे दिन भर जीते हो, वो फ़िज़ूल है, व्यर्थ है, और संभव है एक सहज, तनाव-मुक्त जीवन जीना।

अगर आप इस इशारे का सदुपयोग कर लें तो सुषुप्ति बड़े सौभाग्य की चीज़ है, आपको सहारा देने आयी है, इशारा देने आयी है। और अगर आप सुषुप्ति का उपयोग सिर्फ़ इसलिए कर रहे हैं कि आपको एक तात्कालिक राहत मिल जाए, दो-तीन घण्टे आपको गहरी नींद मिल जाए—आठ घण्टे सोए, उसमें से सुषुप्ति के बस दो ही तीन घण्टे होते हैं—वो दो-तीन घण्टे में आपको गहरी नींद मिल जाए ताकि आप पुनः ताज़े होकर के अपने पुराने ही ढर्रों में लौट जाएँ, तो सुषुप्ति फिर आपके लिए बड़े दुर्भाग्य की बात है। क्योंकि सुषुप्ति आपको तरो-ताज़ा तो कर रही है, पर सिर्फ़ इसलिए ताकि आप अपने पुराने बंधनों में बने रह जाएँ। तो सुषुप्ति चेतना की एक बड़ी विशिष्ट अवस्था है।

फिर सुषुप्ति के आगे जो होता है, उसे चेतना की अवस्था नहीं मानते, वो चेतना का आधार कहलाता है, उसे आत्मा कहते हैं। और वो चूँकि इन तीनों अवस्थाओं से आगे होता है तो इसीलिए उसे तुरीय भी कहते हैं। चूँकि वो चेतना की कोई अवस्था ही नहीं होती बल्कि अवस्थाओं के प्रति निरपेक्षता होती है, अवस्थाओं के प्रति एक तरह की अरुचि होती है, तो उसको कहते हैं साक्षी।

तुरीय ही आत्मा है, तुरीय ही साक्षी है।

दि फ़ोर्थ, चौथा – तुरीय। तीन से आगे चौथा, चौथा भी इसलिए कहना पड़ रहा है कि तीन से आगे है, नहीं तो बस ये कहना काफ़ी होता कि तीन से आगे है। असल में जब चौथा बोल दिया तो ऐसा लगता है कि जैसे तीन अवस्थाएँ हैं तो ऐसी ही कोई चौथी अवस्था भी होती होगी। ये बात समझ में आ रही है? तुरीय चेतना की कोई अवस्था होती ही नहीं है, तुरीय विशुद्ध चेतना मात्र है।

तो इससे ये भी स्पष्ट हो गया होगा कि ये जो चेतना की तीन अवस्थाएँ हैं, जिनकी हमने बात करी, ये वास्तव में तीन अशुद्ध अवस्थाएँ हैं। ये चेतना की तीन अशुद्धताओं के नाम हैं: जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। ये चेतना में तीन तरह के विकारों और विकृतियों के नाम हैं; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति।

जब चेतना बिलकुल स्वच्छ और शुद्ध हो जाती है, विशुद्ध चेतन, चैतन्य मात्र हो जाती है, तो वो तुरीय कहलाती है।

अब उसमें कोई अवस्था नहीं है, अब वो अवस्थातीत हो गया। इसी को ऐसे भी कह सकते हो कि तुरीय चेतनातीत है; एक तरफ़ तो ये भी कह रहे हो कि विशुद्ध चेतना है और दूसरी दृष्टि से ये भी कह सकते हो कि चेतना से आगे है। जब कहते हो कि चेतना से आगे है, तो वास्तव में तुम कह रहे हो कि चेतना की अशुद्धियों से आगे है, शुद्ध है।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय कोशों का परिचय क्या है?

अन्नकार्याणां कोशानां समूहोऽन्नमयः कोश उच्यते।

प्राणादिचतुर्दशवायुभेदा अन्नमयकोशे यदा वर्तन्ते

तदा प्राणमयः कोश इत्युच्यते।एतत्कोशद्वयसंसक्तं मन आदि चतुर्दशकरणैरात्मा

शब्दादिविषयसङ्कल्पादीन्धर्मान्यदा करोति

तदा मनोमयः कोश इत्युच्यते।

एतत्कोशत्रयसंसक्तं तद्गतविशेषज्ञो यदा भासते

तदा विज्ञानमयः कोश इत्युच्यते।

एतत्कोशचतुष्टयं संसक्तं स्वकारणाज्ञाने

वटकणिकायामिव वृक्षो यदा वर्तते

तदानन्दमयः कोश इत्युच्यते। ॥५॥

"अन्न से निर्मित होने वाले कोश समूह रूप शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं। जब इस अन्नमय कोश रूप शरीर में प्राण आदि चौदह वायु संचारित होते हैं, तब उसे प्राणमय कोश कहा जाता है। अन्नमय और प्राणमय कोश के अंदर रहने वाले मन आदि चतुर्दश करणों (इन्द्रियों) द्वारा आत्मा जब शब्दादि विषयों पर चिंतन करता है, तब उसे मनोमय कोश कहते हैं। तीनों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय) कोशों से संयुक्त होकर जब वह (आत्मा) बुद्धि द्वारा चिंतन करता है, तब उसके बुद्धि-युक्त स्वरुप को विज्ञानमय कोश कहते हैं। इन चार (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय) के साथ आत्मा जब वट वृक्ष के (मूलकारण) वृक्षबीज के समान अपने कारण स्वरूप को न जानता हुआ निवास करता है, तब उसके उस स्वरूप को आनंदमय कोश कहते हैं।"

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक ५

आचार्य प्रशांत: फिर पूछा है कि "अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय कोशों का परिचय क्या है?"

ये सब कोश किसके हैं? ये सब कोश जीव के हैं — शुरुआत हमेशा यहाँ से करो, ये अध्यात्म का सूत्र है।

उपनिषदों को पढ़ना भी अपने-आपमें एक कला है, लगातार पूछते रहना पड़ता है कि ये जो बात कही जा रही है, किससे कही जा रही है, किसके लिए कही जा रही है। जिनको आध्यात्मिक ग्रंथों को पढ़ना नहीं आता या जिनको आध्यात्मिक वार्ता को सुनना नहीं आता, वो पढ़ने और सुनने से पहले तो पढ़ने-सुनने की कला विकसित करें। एक खास तरीका होता है इन ग्रंथों को पढ़ने का या इन वार्ताओं को सुनने का, जिनको वो तरीका नहीं आता, वो अर्थ का अनर्थ कर लेते हैं, उन्हें लाभ नहीं होता, उन्हें क्रोध वगैरह ज़्यादा आ जाता है। उन्हें लगता है, "ये क्या बात हो रही है ऐसी-वैसी?"

तो ये जो जीव है, इसमें जो चीज़ सबसे बाहर है, उसको कहते हैं अन्नमय-कोश। अन्नमय-कोश माने वो सब कुछ जो बाहर से ले करके बना है — बाहर से अन्न ले करके, जल ले करके, हवा ले करके, धूप ले करके जिसका निर्माण हुआ है, उसको कहते हैं अन्नमय-कोश। तो शरीर का रेशा-रेशा कहलाता है अन्नमय-कोश।

इस अन्नमय-कोश में, अगर हम अस्तित्व की ही बात कर रहे हैं, तो अन्नमय-कोश से भी बाहर का एक कोश तुम और जोड़ सकते हो। अगर पाँच कोश हैं तो एक छठा कोश भी जोड़ा जा सकता है, छठा कोश बताओ क्या होगा?

भीतर से बाहर की ओर आते-आते जो तुम्हें सबसे बाहरी कोश मिला, वो है अन्नमय-कोश, ये (हथेली की ओर इशारा करते हुए)। इससे भी बाहर एक कोश और तुम कह सकते हो कि होता है, हालाँकि शास्त्रीय तौर पर उसका कोई उल्लेख नहीं है लेकिन फिर भी कह सकते हो, क्या? संसार। तो सबसे बाहरी कोश तो संसार है। मैं उसको इसलिए जोड़ना चाहता हूँ क्योंकि संसार भी है तो हमारे ही अस्तित्व का हिस्सा न?

विशुद्ध-अद्वैत का अर्थ क्या होता है? जो कुछ भी है, मेरा ही प्रक्षेपण है, और मेरा प्रक्षेपण है झूठा ही। तो दो हैं, मात्र दो, 'मैं' और 'संसार', 'मैं' माने आत्मा। मात्र दो हैं, आत्मा और संसार, और इन दो में भी एक प्रक्षेपण मात्र है, मिथ्या है, तो ले-देकर के बचा कौन? एक आत्मा। और आत्मा एक भी नहीं है, क्योंकि एक अकेला हो नहीं सकता, तो उसको एक कहना भी ठीक नहीं है, तो बस 'अद्वैत' बोल दो। ठीक है?

तो इसलिए हम ये कहें कि आत्मा है, और फिर आत्मा के अलावा पाँच कोश हैं और फिर संसार है, तो हमने तीन बना दिए न? नहीं समझे? हमने कह दिया, "आत्मा है, फिर पाँच कोश हैं, और फिर बाहर संसार है।" तो ये तो हमने तीन बना दिए न? तीन न बनाओ, दो ही रहने दो – आत्मा और पाँच कोश। और छठा कोश संसार को मान लो, क्योंकि संसार भी हमारा ही विस्तार है।

तो संसार से दाना-पानी ले करके हमने जिस कोश का निर्माण करा, उसको क्या कहते हैं? अन्नमय-कोश। ये (हथेली की ओर इशारा करते हुए), ये है अन्नमय-कोश। अन्नमय-कोश में जो कुछ है, वो या तो ठोस है या तरल है।

उसके अलावा जो अगला कोश है, उसे कहते हैं प्राणमय-कोश, जिसमें तमाम तरह की वायु हैं। चौदह तरह की वायु मानी गई हैं, बहुत सारी वायु हैं, उन्हीं वायुओं को कहते हैं प्राण। तो ऐसे कहा जाता था कि प्राण नहीं हैं, तो श्वास का चलना बंद हो जाता है न? और शरीर में जितनी भी गतियाँ होती हैं, वो सब बंद हो जाती हैं न? वो सब जितनी गतियाँ होती हैं शरीर में, उनकी प्रतिनिधि है वायु, क्योंकि वायु गति करती है।

गति तो तरल पदार्थ भी करते हैं, लेकिन जीवन का प्रतिनिधि माना गया वायु को, इसीलिए जो वायु का कोश है, उसे नाम दिया गया प्राणमय-कोश। आख़िरी बात ये कि जब ये वायु (साँस का इशारा करते हुए) चलनी बंद हो जाती है, तो प्राण नहीं हैं, तो उसको नाम दिया गया — प्राणमय-कोश। ठीक है?

उसके बाद कौन सा कोश आता है? मनोमय-कोश। मनोमय-कोश क्या है? अभी हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रहे हैं, भीतर, अंदर की ओर। मनोमय-कोश आपके अस्तित्व का वो तल है जहाँ अव्यवस्थित मानसिक गतिविधि चलती ही रहती है, लगातार। मन है, और मन वृतियों द्वारा संचालित है, मन उच्छृंखल है। मन पूरे तरीके से मात्र प्राकृतिक गति कर रहा है, उसको प्रकृति के आगे जाने की कोई अभीप्सा नहीं है। ये कोश कहलाता है मनोमय-कोश।

मनोमय-कोश पशुओं में भी सक्रिय होता है। मनोमय-कोश को सक्रिय करने के लिए ठीक वैसे आपको कोई साधना नहीं करनी पड़ती, जैसे कि अन्नमय-कोश और प्राणमय-कोश को सक्रिय करने के लिए आपको कोई साधना नहीं करनी है। मनोमय-कोश स्वयं ही सक्रिय रहता है, एक छोटे बच्चे में भी सक्रिय रहता है।

उसके बाद आपके अस्तित्व का वो तल आता है जिस पर बहुत कम लोग पहुँचते हैं, वो है विज्ञानमय-कोश। विज्ञानमय-कोश विचारणा का वो विरल तल है जिसमें विचार पहली बात तो व्यवस्थित हो जाता है, और दूसरी बात, अपनी ओर मुड़ जाता है। विचार व्यवस्थित हो गया है, विचार जैसे किसी ज़बरदस्त ताक़त के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया है, अब विचार की पूरी शक्ति एकाग्र हो करके कुछ पाना चाहती है। विचार की इस अवस्था को कहते हैं विज्ञान।

मनोमय-कोश और विज्ञानमय-कोश में अंतर समझना। बिखरा हुआ विचार, वृत्तियों द्वारा शासित विचार — ये आएगा मनोमय-कोश में। और एकाग्र विचार, अनुशासित विचार, व्यवस्थित विचार, योजनाबद्ध विचार — ये आएगा विज्ञानमय-कोश में।

और अगर विज्ञानमय-कोश में जो साधना कर रहा है विचार, जो आत्म-जिज्ञासा कर रहा है विचार, तो विचार फिर कटने लगता है, विचार अपनी ही आँच में पिघलने लगता है, और रह जाता है एक निर्विचार

आनंद। उसको कहते हैं आनंदमय-कोश। आनंद है पर उस आनंद का कारण कोई विचार या विषय नहीं है, एक विषयहीन आनंद है, ये आनंदमय-कोश है, इसमें अहम् विषयहीन हो गया है।

आनंदमय-कोश बहुत तात्कालिक होता है, अहम् आनंदमय-कोश में बहुत समय तक नहीं रह सकता; या तो वो किसी निचले तल पर गिर जाएगा या उठकर के आत्मा में समाहित हो जाएगा, जबकि बाकी सब कोशों से अहम् लंबे समय तक सुविधापूर्वक संबंधित रह सकता है, उदाहरण के लिए, जो लोग देह से तादात्म्य रखते हैं, देह भाव में जीते हैं, वो बड़े मज़े से जीवन-भर अन्नमय-कोश में रह सकते हैं। ये सब आपकी हस्ती के तल हैं न? और जो अहम् है, वो किसी भी तल पर निवास कर सकता है।

अब पशुओं को ले लो, उनका पूरा जीवन ही कहाँ बीत रहा है? अन्नमय-कोश में बीत रहा है। उनको किसी भी हाल में तीसरे कोश से ऊपर की यात्रा तो करनी ही नहीं है; अन्नमय में हैं, प्राणमय में हैं, कभी मनोमय-कोश में, और ऊपर की यात्रा उन्हें करनी नहीं है। ऐसे ही बहुत सारे मनुष्य भी होते हैं, जिनका अधिकांश जीवन बीत रहा है अन्नमय-कोश में या मनोमय-कोश में। जो बुद्धिजीवी हो गए, उनका जीवन कहाँ बीतने लग जाता है? विज्ञानमय-कोश में। और जो आध्यात्मिक साधक हो गए, उन्हें किसका स्वाद मिलने लग जाता है? आनंदमय-कोश का।

लेकिन आनंदमय-कोश का स्वाद आप लगातार नहीं ले सकते, चिरकाल तक नहीं ले सकते। आनंदमय-कोश का स्वाद, उदाहरण के लिए, आपको दिलवा देंगी ज्ञान की विधियाँ या भक्ति में भजन या कीर्तन। आप आधे घण्टे के लिए कहाँ स्थापित हो गए? आनंदमय-कोश में। आप एक अकारण-आनंद में विश्राम करने लग गए। आपको पता भी नहीं है कि इतना चैन, इतनी अनूठी शांति क्यों मिल रही है; आप सब भूल गए, बिलकुल खो गए, विचार ही लुप्त हो गया। लेकिन भजन क्या चौबीस-घण्टे चलेगा? ध्यान की कोई भी विधि होगी, थोड़ी देर में समाप्त हो जाएगी न?

यही वज़ह है कि मैं बार-बार कहा करता हूँ कि ध्यान की विधियाँ भी आत्मा के खिलाफ़ आखिरकार एक अवरोध बन जाती हैं; आप थोड़ी देर के लिए आनंदमय तक पहुँचते हो, वहाँ पर रस पीते हो आनंद का, और उसी रस से, उतने से ही तृप्त हो करके फिर आप वापस नीचे कहीं गिर जाते हो, मनोमय-कोश में आ गए, कहीं और आ गए। विरले होते हैं वो जो आनंदमय-कोश को साधन-मात्र, मार्ग-मात्र समझते हैं आत्मा तक प्रवेश का। जो आनंदमय-कोश का भी अतिक्रमण कर गया, वो आत्मा में प्रवेश कर जाता है; आनंदमय-कोश आख़िरी अवरोध है।

आनंदमय-कोश अपने-आपमें एक भारी प्रलोभन है। आनंदमय-कोश आपको क्या लालच दे देता है? वो आपसे कहता है, "ज़िंदगी चल रही है न? तुम्हें नीचे के सुख तो मिल ही रहे हैं। शरीर के सुख मिल रहे हैं, मन के सुख मिल रहे हैं, ज्ञान के सुख मिल रहे हैं।" शरीर का सुख कहाँ मिल रहा है? अन्नमय-कोश में। जिसे तुम कहते हो जीवन का सुख, वो तुम्हें कहाँ मिल रहा है? प्राणमय-कोश में। इच्छाओं को पूरा करने का सुख मनोमय-कोश में है। ज्ञान से जितने तरह की उपलब्धियाँ और सुविधाएँ हासिल की जाती हैं, उनके सुख विज्ञानमय-कोश में हैं।

"ये सब तो तुमको सुख मिल ही रहे हैं, साथ-ही-साथ रोज़ तुम थोड़ी देर के लिए समाधि का भी सुख ले लिया करो। किस कोश में? आनंदमय-कोश में।"

कैसे ले लिया समाधि का सुख? ध्यान पर बैठ गए, कुछ गा लिये, कोई और विधि आज़मा ली। तो थोड़ी देर के लिए आनंदमय-कोश का भी सुख ले लिया; पाँचों कोशों का अनुभव ले लिया, क्या बात है! क्या बात है! बस किससे चूक गए? आत्मा से, जो सब कोशों के पार है, जो पाँचवें कोश का उल्लंघन करने के बाद मिलती है, उस पर चूक गए।

तो ये जो हमें एक तरीका दिया गया है, ये एक आदर्श है, ये एक मॉडल (प्रतिरूप) है, ये एक नमूना है। पाँच कोश कहीं होते नहीं हैं, ये एक तरीके की व्यवस्था बनाई गई है अपने अस्तित्व को समझने के लिए कि हम हैं कौन।

ऋषि से किसी ने पूछा होगा, "हम हैं कौन?" तो ऋषि ने ऐसे करके जवाब दिया कि "देखो, हम पाँच तलों पर जीने वाले लोग हैं, और ये पाँच तल हो सकते हैं। और ये जो पाँचों तल हैं, ये पाँचों अनात्मा के तल हैं, इन पाँचों तलों पर अहंकार जीवित रह जाता है, इन पाँचों तलों पर अहंकार ही वास करता है। इसीलिए ये पाँचों तल वो हैं जिनका तुमको कभी-न-कभी त्याग करना है या उल्लंघन करना है। वास्तव में तुम हो आत्मा, जो पाँचों कोशों से विलग है और अतीत है।"

जी तो तुम इन कोशों में ही रहे हो न लेकिन, तो फिर इन कोशों का करना क्या है? जीवन क्यों है? जीवन का तो मतलब ही यही है कि तुम कोशों में जी रहे हो। फिर, ये कोश इसलिए हैं ताकि इन कोशों का तुम सही इस्तेमाल करके इन्हीं कोशों से आगे निकल जाओ। इन कोशों को भोगने की नज़र से नहीं देखना है, संसाधन की दृष्टि से देखना है, ये दो बहुत अलग-अलग बात हैं।

इन कोशों को ऐसे नहीं देखना है कि इन्हीं कोशों को भोग-भोग कर इन्हीं से सुख ले लें। इन कोशों को ऐसे देखना है कि ये जो कोश हैं, ये मेरे लिए ऊर्जा हैं, ईंधन हैं, अवसर हैं, संसाधन हैं। मुझे इनका समुचित प्रयोग करना है ताकि मैं इन्हीं का इस्तेमाल करूँगा और इन्हीं से आगे निकल जाऊँगा।

इन कोशों में सब आ गया है न? शरीर आ गया, मन आ गया, बुद्धि आ गई और तुमने शरीर, मन, बुद्धि का प्रयोग करके जो कुछ भी अर्जित करा है, ज्ञान, सम्पदा, धन, वो सब भी आ गया। तो पाँच कोशों में तुम्हारा पूरा संसार आ गया। इस तुम्हारे पूरे संसार का तुम्हें करना क्या है? प्रयोग करना है, समुचित प्रयोग; इसका प्रयोग करके लाँघ जाना है।

तो ये है पंचकोशीय व्यवस्था। अस्तित्व को इसी तरीके से तीन शरीरों के माध्यम से भी समझाया गया है, उनमें भी जाओगे तो बात करीब-करीब ऐसी ही निकलेगी। उनकी चर्चा हम कभी आगे करेंगे।

कर्ता कौन है? जीव कौन है?

आचार्य प्रशांत: "कर्ता कौन है और जीव कौन है?"

उपनिषद् ने यहाँ भी बड़े संक्षेप में उत्तर दिए हैं। कर्ता वो है जिसे सुख और दुःख की अभीप्सा है। जिसे सुख और दुःख की अभीप्सा है, उसका नाम कर्ता है, क्योंकि वो जो कुछ भी करता है, किसलिए करता है? सुख पाने के लिए, दुःख से बचने के लिए; कर्म का और कोई आधार होता ही नहीं है।श्लोक छः पर ध्यान दो —

सुखदुःखबुद्ध्या श्रेयोऽन्तः

कर्ता यदा तदा इष्टविषये बुद्धिः

सुखबुद्धिरनिष्टविषये बुद्धिर्दुःखबुद्धिः।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः सुखदुःखहेतवः।

पुण्यपापकर्मानुसारी भूत्वा

प्राप्तशरीरसंयोगमप्राप्तशरीरसंयोगमिव

कुर्वाणो यदा दृश्यते तदोपहितजीव इत्युच्यते। ॥६॥

“सुख की भावना से मन में वस्तु विशेष के प्रति जो रुचि उत्पन्न होती है, वह सुख बुद्धि कहलाती है और वस्तु विशेष के प्रति जो अरुचि उत्पन्न होती है, वह दुःख बुद्धि कहलाती है।

सुख प्राप्त करने और दुःख का परित्याग करने के लिए जीव जिन क्रियाओं को करता है, उन्हीं के कारण वो कर्ता कहलाता है।

सुख-दुःख के कारणभूत ये पञ्च विषय - शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं। जब पुण्य-पाप का अनुसरण करता हुआ आत्मा इस मिले हुए शरीर को अप्राप्त की तरह मानता है, तब उपाधि-युक्त जीव कहलाता है।”

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक ६

उपनिषद् ने कर्ता की परिभाषा बतायी है। सुख पाने के लिए, दुःख से बचने के लिए जो कुछ भी तुम करते हो, वो तुम्हें कर्तृत्व दे देता है। हर कर्म के पीछे उद्देश्य, भावना एक ही है — सुख।इसी तरीके से जीव के बारे में क्या कहा उपनिषद् ने?

“जब पाप-पुण्य का अनुसरण करता आत्मा इस शरीर को अप्राप्त की तरह मानता है, तब वह उपाधि-युक्त जीव कहलाता है।”

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक ६

जब तुम्हें कुछ लगता है करने जैसा, कुछ लगता है ना करने जैसा, कुछ तुम्हारे लिए प्राप्य होता है, कुछ अप्राप्य होता है, तो जो तुम्हें लगता है कि करने में शांति है, विभूति है, उसको तुम कह देते हो कि पुण्य है। जो तुम्हें लगता है कि करने में अपकीर्ति है और क्षति है, उसको तुम कह देते हो पाप।

ये क्षति या प्राप्ति दोनों किसके लिए हैं? शरीर के लिए हैं। तो वो अहम्, जो शरीर के साथ जुड़ गया है, शरीर को ही सत्य माने आत्मा समझने लगा है, वो अपने-आपको सदा इस दुविधा में पाता है कि “किधर को जाऊँ, किधर को ना जाऊँ, क्या करूँ, क्या ना करूँ?” जिसकी ऐसी दशा पाओ, उसको नाम दे दो — जीव।

जीव वो जिसके सामने विकल्प हों। जीव वो जिसको कुछ ठीक और कुछ ग़लत लगता हो। जीव वो जिसको कहीं लाभ और कहीं हानि होती हो। जीव वो जो अपने-आपको असुरक्षित अनुभव करता हो। जीव वो जो अपनी पहचान भूल करके अपने-आपको देह के साथ जोड़ चुका हो।

चूँकि वो अपने-आपको देह के साथ जोड़ चुका है इसीलिए वो 'जीव' माने जीवित कहलाता है। जीवित समझते हो? चूँकि देह के साथ अपने-आपको जोड़ लिया इसीलिए अब कभी-न-कभी मानेगा कि "मेरा जन्म हुआ था", और देह के साथ अपने आपको जोड़ लिया तो इसीलिए कभी-न-कभी उसकी मृत्यु होगी।

जो अपने-आपको जन्मा मान रहा है और मृत्यु की ओर बढ़ रहा है, उसके लिए हमेशा कुछ करणीय और कुछ अकरणीय, माने कुछ पाप और कुछ पुण्य हो जाएगा। जो कुछ भी उसकी देह को बचाकर रखेगा, वो उसके लिए करणीय हो जाएगा। और जो भी विकल्प उसे मृत्यु की ओर ले जाएगा, वो उसके लिए अकरणीय हो जाएगा। तो जीव अपनी ग़लत पहचान और अपनी ग़लत परिभाषा के कारण लगातार संकल्प-विकल्प का झूला झूलता है।

जिसके लिए कभी एक राह ठीक, कभी दूसरी राह ठीक, जो कभी इस संशय में, कभी उस शंका में, उसका नाम जीव है।

आख़िरी बात ये कि जो मृत्यु में ही अपनी अंतिम गति देखता हो, उसी का नाम है जीव। और जब तक मृत्यु नहीं आयी है, मात्र तब तक कहलाता है वो जीवित। तो उसकी जो अवस्था है, वो बिलकुल तात्कालिक है, उसमें कुछ भी ऐसा नहीं जो सनातन या शाश्वत हो, इसीलिए जीव समय से भी सदा घबराया हुआ रहेगा।

पंचवर्ग क्या है?

आचार्य प्रशांत: बहुत सुंदर, सारगर्भित और संक्षिप्त उपनिषद् है सर्वसार उपनिषद्। अपने नाम के प्रति खरा, 'सर्वसार', जैसे गागर में सागर भर दी गई हो।

तो पूछा कि "पंचवर्ग क्या है?"

मन आदिश्च

प्राणादिश्चेच्छादिश्च सत्त्वादिश्च पुण्यादिश्चैते

पञ्चवर्गा इत्येतेषां पञ्चवर्गाणां धर्मीभूतात्मा

ज्ञानाद्दते न विनश्यत्यात्मसन्निधौ नित्यत्वेन

प्रतीयमान आत्मोपाधिर्यस्तल्लिङ्गशरीरं

हृद्ग्रन्थिरित्युच्यते। ॥७॥

“मन आदि (अंतःचतुष्टय), प्राण आदि (चौदह प्राण), इच्छा आदि (इच्छा-द्वेष), सत्त्व आदि (सत्, रज, तम) और पुण्य आदि (पाप-पुण्य), इन पाँचों को पंचवर्ग कहा जाता है। इनका धर्मी (धारक) बनकर जीवात्मा ज्ञान-रहित होकर इनसे मुक्ति नहीं पा सकता। मन आदि जो सूक्ष्म तत्त्व हैं, इनकी उपाधि सदैव आत्मा के साथ लगी प्रतीत होती है, जिसे लिङ्ग शरीर कहते हैं, वही हृदय की ग्रंथि है।“

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक ७

जैसे माया के ही पाँच रूपों, पाँच वर्गों की बात की जा रही हो। आत्मा के ऊपर उपाधि बनकर अज्ञान, अविद्या या माया सत्य को छुपाए रहती है, ढके, आच्छादित किए रहती है, उसी अज्ञान को पाँच अलग-अलग तरीकों से कहा गया है पंचवर्ग में।

एक तरीका है कहने का कि सत्य को या आत्मा को प्रकृति ने अपने तीन गुणों से ढक रखा है, तो ये पहला वर्ग हो गया त्रिगुणात्मक प्रकृति का।

दूसरा तरीका हो गया कहने का कि मन समेत जो अन्तःकरण चतुष्टय के चार विभाग हैं, उन्होंने आत्मा को ढक रखा है। तो मन समेत ये चार विभाग कौन से हुए? मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। तो ऐसे भी कहा जा सकता है कि इन्होंने ढक रखा है आत्मा को।

या आप कह सकते हैं कि जो जीव की प्राण से आसक्ति है, जिसके कारण वो अपने-आपको जीवित कहता है, तो उन चौदह प्राणों, माने चौदह प्रकार की वायु ने सत्य को ढाँक रखा है। तो ये तीसरा तरीका हो गया कहने का।

चौथा तरीका ये हो गया कि राग ने और द्वेष ने, सुख ने और दुःख ने, इन्होंने सच को ढक रखा है।

और पाँचवाँ तरीका हो गया कहने का कि कर्तव्य ने और अकर्तव्य ने माने पाप और पुण्य ने सच को दबा रखा है। यही बात श्रीकृष्ण कहते हैं न गीता में कि जैसे अग्नि होते हुए भी अपने चारों ओर के धुँए के कारण हो सकता है दिखाई न देती हो, जबकि अग्नि के कारण ही धुँआ है, वैसे ही सत्य दिखाई नहीं देता है अपने ऊपर लेपित माया के कारण।

अन्यत्र उपनिषद् कहते हैं कि सच का मुँह स्वर्णमय पात्र द्वारा ढका हुआ है। सच दिखाई ही नहीं देता, उसके ऊपर कुछ ऐसा छाया हुआ है जिसमें सोने जैसी चकाचौंध है, वो आँखों को चौंधिया देती है, वो अपने पार देखने ही नहीं देती। वो पहली बात, आकर्षक लगती है और दूसरी बात, वो आँखों की देखने की शक्ति को ख़त्म कर देती है।

आप किसी चमकदार चीज़ की ओर बहुत देर तक देखें तो उसके बाद आप पाएँगे आपकी आँखें कम-से-कम कुछ देर के लिए देखने की शक्ति खो चुकी हैं। ठीक वैसा ही होता है जब आप पंचवर्ग की ओर देखते हैं। इनमें से किसी की ओर भी मनुष्य अनायास ही नहीं देखता, आप देखते ही इनकी ओर तब हैं जब आप इनकी लालसा रखते हैं या आप इनसे किसी प्रकार का संबंध या सरोकार रखते हैं। या अधिक-से-अधिक इतना कह सकते हैं कि हो सकता है आपने इनकी ओर संयोगवश भी देख लिया हो, लेकिन मन में बैठी उन्हीं पुरानी वृत्तियों के कारण देखते ही आप इनसे एक रिश्ता बना लेते हैं। और रिश्ता लाभ-हानि का ही होता है, सुख-दुःख का ही होता है, राग-द्वेष का ही होता है। दोनों ही बातें हो सकती हैं। कौन सी दो बातें?

पहला — मन में पहले से ही किसी विषय के प्रति लिप्सा बैठी हुई है, इस कारण आपने उस विषय को देखा। और दूसरी चीज़ हो सकती है कि मन में जो लिप्सा बैठी हुई है, वो अर्ध-चैतन्य है, वो प्रसुप्त है, पर जब आपने संयोगवश किसी विषय को देखा तो उस विषय को देखने के कारण वो लिप्सा जागृत हो गई। लेकिन दोनों ही स्थितियों में एक बात तो तय है, हम अगर किसी विषय की ओर देख रहे हैं तो निरपेक्ष होकर नहीं देख सकते, कुछ हमारा उससे संबंध बन जाता है। और जहाँ हमने किसी भी दृष्टव्य विषय से संबंध बनाया, तहाँ उस विषय का आधारभूत सत्य हमसे ओझल हो जाता है।

पंचवर्ग में जो कुछ भी है, वो सच को हम तक पहुँचने से रोकने वाली बाधा ही है। और पंचवर्ग में जो पाँचों वर्ग हैं, वो वास्तव में एक-दूसरे से पृथक नहीं हैं; वर्गों में कोई पार्थक्य नहीं है, देखने वाले की दृष्टि में पार्थक्य है। उदाहरण के लिए, अगर कोई पाने-खोने से प्रेरित होने के कारण सच से दूर है तो हम उसे कहेंगे, "इसकी आँखों पर पर्दा पड़ा हुआ है कर्तव्य-अकर्तव्य या पाप-पुण्य का।" दूसरी ओर अगर कोई तमसा के कारण, अचेतन हो जाने के कारण प्रमादी होकर सच से दूर है तो हम कहेंगे, "इस पर पर्दा पड़ा हुआ है प्रकृति के तमोगुण का।"

तो ये तो लोगों ने अलग-अलग तरीके खोज रखे हैं। जीव ने सौ तरह के बहाने गढ़ रखे हैं सच से दूर होने के। तो वो जो सौ तरह के बहाने हैं, उनको पाँच वर्गों में विभक्त कर दिया गया है पंचवर्ग कहकर। वो पाँच वर्गों की व्यवस्था भी इसलिए बना दी गई है ताकि आपको बोलने में और याद रखने में सुविधा हो, नहीं तो बात ये है कि जितने लोग उतने कारण, जितने मन उतने बहाने। हर व्यक्ति के पास अपना एक व्यक्तिगत कारण होता है सच से दूरी बनाने का। कोई भी दो लोग बिलकुल एक ही कारण कहते नज़र नहीं आएँगे।

आपसे पूछा जाए कि "आप क्यों अपने व्यक्तित्व के अंधेरे में गुम हो, सच की तरफ़ क्यों नहीं बढ़ते?" (सभा में बैठे कुछ श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए) आप कुछ बात बताएँगे। आपसे पूछा जाए, आप दूसरी बात बताएँगे, आपसे पूछा जाए, आप तीसरी बात बताएँगे। तो इन्हीं सब बातों को लेकर के उनको पाँच हिस्सो में विभक्त कर दिया गया है। उनको क्या नाम दिया गया? पंचवर्ग। ठीक है?

इस पाँच को पाँच नहीं, पाँच-हज़ार जानना। पाँच तो ऐसे ही हैं जैसे मुहावरा। कोई कहना चाहे तो यहाँ तक कह सकता है कि आदमी के हाथ में अंगुलियाँ होती हैं पाँच, इसीलिए माया के हिस्से कर दिए गए पाँच। ले-दे करके सारे हिस्से हैं एक ही केन्द्रीय वृत्ति के कारण, और वो वृत्ति है अज्ञान की। दूसरी दृष्टि से देखूँ तो कह दूँगा, वो वृत्ति है अप्रेम की।

सच पूछो तो अज्ञान से लड़ना फिर भी आसान होता है, ग्रंथ आ करके ज्ञान की आपूर्ति कर सकते हैं। अप्रेम का इलाज बड़ा मुश्किल होता है, कोई ग्रंथ नहीं है जो प्रेम सिखा सके बहुत कुशलतापूर्वक। इसीलिए ज़्यादातर ग्रंथ तो प्रेम सिखाने या बताने का प्रयास भी नहीं करते, वो कहते हैं कि प्रेम हो अगर पहले ही तो हमारे पास आना, हमारे पास आकर प्रेम सीखने की कोशिश मत करना। ग्रंथ कहते हैं न कि तुम्हारे पास मुमुक्षा होनी चाहिए हमारे पास आने से पहले?

किसी-न-किसी तरीके से सब गुरु, सब ग्रंथ ये शर्त रखते हैं, कहते हैं कि जिसे मुक्ति की आकांक्षा हो, वो ही हमारे पास आए। ये जो मुक्ति की आकांक्षा है, मुमुक्षा, यही तो सत्य के प्रति प्रेम है न। इसी आकांक्षा का ही नाम 'सत्य मिल जाए', इसी का तो नाम प्रेम है। तो ये सिखाया नहीं जा सकता। ग्रंथ भी कहते हैं, "ये आपमें हो, तो हमारे पास आइएगा।" हाँ, संतों ने ज़रूर कोशिश की हमें प्रेम सिखाने की, उन्होंने खूब गीत

रचे, खूब बातें कहीं। ये उनकी करुणा थी, लेकिन फिर भी कुछ कहा नहीं जा सकता कि अप्रेम से संतों के गीत भी जीत सकते हैं या नहीं।

तो हमारे भीतर जो मूल ग्रंथि बैठी है, मैंने कहा, उसके दो नाम हो सकते हैं, अज्ञान या अप्रेम, और यही अभिव्यक्त होते हैं पंचवर्ग के रूप में। ठीक है?

क्षेत्रज्ञ क्या है? साक्षी क्या है?

तत्र यत्प्रकाशते चैतन्यं स

क्षेत्रज्ञ इत्युच्यते। ॥८॥

उस लिङ्ग शरीर में जो चैतन्य है, उसी को 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं ॥

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक ८

ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञाता

स्वयमाविर्भावतिरोभावरहितः

स्वयंज्योतिः साक्षीत्युच्यते। ॥९॥

ज्ञाता, घ्यान और ज्ञेय के उद्भव और विलय को जानकार भी तो स्वयं उतपत्ति और विनाश से परे है, वह आत्मा साक्षी कहलाता है।

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक ९

आचार्य प्रशांत: फिर पूछा कि, "क्षेत्रज्ञ क्या? साक्षी क्या?"

समझते हैं।

क्षेत्रज्ञ का संबंध निश्चित रूप से किसी क्षेत्र से ही होगा। क्षेत्रज्ञ माने क्षेत्र का ज्ञाता।

अच्छा! किस क्षेत्र की बात हो रही है? वो जो क्षेत्र है वो हमारे अनुभव का क्षेत्र है। ठीक है? जो कुछ भी अनुभूत है, जो कुछ भी भासित होता है, वो क्षेत्र में आता है। क्षेत्र समझ लो अच्छे से। तो जो दिखाई देता है उसका अनुभव होता है? तो क्षेत्र में आएगा। जो सुनाई देता है उसका अनुभव होता है? अनुभव होता है या नहीं होता है ये कैसे पता करें?

जो भी चीज़ मन को हिला जाए, जो भी चीज़ मन पर निशान छोड़ जाए, मन में अंकित हो जाए उसको हम अनुभूत वस्तु मानेगें, कि "इसका अनुभव हुआ"। अनुभव का और तो कोई तक़ाज़ा होता ही नहीं न? अनुभव की एकमात्र कसौटी ही क्या है - अनुभोक्ता। अनुभोक्ता कौन है? मन। मन कंपित हो गया तो अनुभव हो गया, और मन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ तो अनुभव नहीं हुआ।

तो जो स्पर्श करते हो उसका अनुभव होता है? तो सब स्पर्शित वस्तुएँ किसमें आईं? क्षेत्र में। जिसका विचार करते हो वो मन पर प्रभाव डालता है? तो विचार जिस भी क्षेत्र का किया जा सकता है, वो पूरा विश्व जो विचार की सीमा के भीतर आता है, जिसके विषय में तुम विचार कर सकते हो, वो भी क्षेत्र ही हुआ। सपने में जो कुछ दिखाई देता है वो तुम पर कुछ असर डालता है? डालता है या नहीं? अरे!

सपने में तो डालता ही डालता है। सपना अगर ज़बरदस्त आया हो, भयानक जैसा, तो नींद से उठने के बाद भी बहुत देर तक हिले रहते हो, है न? तो स्वप्न का जो पूरा जगत है वो भी क्षेत्र हुआ। इसी तरीके से और तुम जब गहरा सो जाते हो, और बड़ा गहरा सुख मनाते हो तो उस सुख के भी तुम अनुभोक्ता होते हो न? उस सुख का अनुभव किसे हो रहा है? तुम्हें हो रहा है। तो वो भी किसमें आया? क्षेत्र में। तो लिखा-पढ़ा, देखा-सुना, कल्पित-विचारित; ये सबकुछ किसमें आएगा? क्षेत्र में।

तुम्हारा जो पूरा संसार है हर तल में, और इस संसार के तुम जितने लोकों की चर्चा कर सकते हो वो सब क्या हैं? क्षेत्र। तो शब्द छोटा सा है - क्षेत्र, लेकिन उसमें हमारे अस्तित्व और अनुभव के सब तल समाहित हैं, वो सब क्षेत्र में आ गया। ठीक है न? बात समझ में आ रही है? तुम्हारे शरीर के भीतर जो है वो भी क्षेत्र है, और सुदूर ब्रह्मांड में कोई तारा जलकर राख हो गया वो भी क्षेत्र है; ये सब क्षेत्र है।

कोई इस क्षेत्र के बारे में क्यों जानना चाहेगा? अगर कोई इस क्षेत्र के बारे में इसलिए जानना चाहता है कि वो इस क्षेत्र से भोग का, लोभ का, अनुभव का संबंध बनाए रख सके सतत्, तो उसको सिर्फ कहते हैं - भोक्ता। क्या कहते हैं उसको? भोक्ता। अब हम क्षेत्र से आगे निकल रहे हैं। क्षेत्र को हमने मान लिया कि क्षेत्र तो है जैसे - जड़ पदार्थ। अभी के लिए इतना कह दिया कि ये जो पूरा अखिल विश्व है, जो अनुभोक्ता का द्रष्टव्य विषय होता है, द्रष्टा जिसे देखता है, उसको हम क्या नाम दे रहे हैं, क्षेत्र का।

अब ये जो क्षेत्र को देखने वाला है वो अधिकांशतः इस क्षेत्र को देखता ही इसीलिए है ताकि वो इस क्षेत्र से कुछ लाभ उठा सके, अपने लिए सुख पा सके, अपने मंतव्यों की प्राप्ति कर सके। क्षेत्र को इस तरह देखने वालों, क्षेत्र को इस तरह जानने वालों को सिर्फ़ हम कहते हैं – भोक्ता; वो क्षेत्र को भोगना चाहते हैं।

भोगते-भोगते ये जो भोक्ता होता है, कभी-कभार बहुत विरल घटना के फलस्वरूप ऐसी जगह पर पहुँच जाता है जहाँ वो कहता है कि, “भोगे जा रहा हूँ, भोगे जा रहा हूँ पर भोग-भोग के भी शांत नहीं हो पा रहा। एक बीमारी-सी लगी हुई है, बुखार-सा बना रहता है। एक खिन्नता है, भीतर आग-सी है, विश्राम नहीं कर पा रहा। भोगे जा ही रहा हूँ, जैसे भोगने में ही तनाव है।“

तब वो क्षेत्र का पुनर्मूल्यांकन करता है। वो क्षेत्र को दोबारा देखता है एक नई दृष्टि से; देख वो पहले भी रहा था क्षेत्र को, पर पहले वो क्षेत्र को ऐसे देख रहा था जैसे कोई हिंसक पशु अपने शिकार को देखता है। क्यों देखता है वो अपने शिकार को? छिपकली को भी तुम देखो, आजकल हैं छिपकलियाँ; जिस कीड़े का उसको शिकार करना है उसे वो बहुत थमकर-के बड़े ध्यान से देखती है। क्या 'जानने' के लिए? क्या 'ज्ञान' के लिए? नहीं, सिर्फ़ भोग के लिए।

तो देख तो वो पहले भी रहा था संसार को, हो सकता है उसे संसार के बारे में जानकारी भी खूब हो, ठीक वैसे जैसे छिपकली को कीड़े के बारे में जानकारी होती है। कीड़ा अपनी गतिविधियों के बारे में जितना जानता होगा, छिपकली भी उससे कुछ कम नहीं जानती कीड़े के बारे में। कीड़े के बारे में जानना है तो या तो कीड़े से पूछो नहीं तो छिपकली से; छिपकली को भी खूब पता होगा। तो आमतौर पर जो भोक्ता है, जो

संसारी मन है, वो संसार को देखता ही इसलिए है, संसार का वो ज्ञान ही इसलिए हासिल करता है ताकि वो उस ज्ञान के माध्यम से भोग के नए-नए रास्ते आविष्कृत कर सके।

अब वो दोबारा देखता है, खिन्न होकर, क्षुब्ध होकर, विरक्त होकर संसार को। अब वो देखता है संसार को ताकि वो संसार-क्षेत्र से मुक्ति पा सके। देखने और देखने में अंतर आ गया है। देख वो पहले भी रहा था, और बहुत सतर्क होकर देख रहा था, बहुत सजगता से देख रहा था, एकदम एकाग्र होकर देख रहा था। देख वो अभी भी रहा है, पर पहले देखने की दृष्टि ये थी कि देखूँ ताकि इसको पा लूँ, जैसे छिपकली कीड़े को देखती है, "देखूँ ताकि मैं इसको जल्दी से पा लूँ।" और अब वो बड़े ध्यान से, बड़ी एकाग्रता से देख रहा है कि, "देखूँ कि इससे मुक्त कैसे हो सकता हूँ?"

ध्यान से किसी चीज़ को देखने की दो वजहें हो सकती हैं- उसे ध्यान से नहीं देखोगे तो उसे पा नहीं सकते एक वजह ये हो सकती है, और दूसरी वजह ये होती है कि अगर ध्यान से नहीं देखोगे तो उससे मुक्त नहीं हो सकते। ये जो दूसरा है, जो क्षेत्र का ज्ञान लेना चाहता है, जो क्षेत्र को देख रहा है, जो क्षेत्र का ज्ञाता हुआ है ताकि क्षेत्र से मुक्त हो सके, ये कहलाता है - क्षेत्रज्ञ।

जो क्षेत्र का ज्ञाता है ताकि क्षेत्र को भोग सके वो कहलाता है – भोक्ता, और जो क्षेत्र को जानता है ताकि क्षेत्र से मुक्त हो सके वो कहलाता है - क्षेत्रज्ञ।

क्षेत्रज्ञ अभी मुक्त हुआ नहीं है, उसे मुक्ति पानी है। तो इसलिए उसे अभी क्षेत्र से कम-से-कम इतना तो संबंध तो रखना ही पड़ेगा कि मुक्ति पा ले। तुम्हें अगर कोई रस्सी काटनी भी है तो तुम उस रस्सी की उपेक्षा नहीं कर सकते; तुम्हें उस रस्सी के साथ जूझना पड़ेगा, तुम्हें उस रस्सी के साथ कुछ रिश्ता तो बनाकर रखना पड़ेगा, भले ही तुम्हें वो रस्सी काटनी है। तो क्षेत्रज्ञ क्षेत्र से पूर्णतया मुक्त नहीं होता, उसे मुक्त होना है। वो क्षेत्र से विरक्त हो गया है पर वो अभी क्षेत्र से पूरी तरह मुक्त हुआ नहीं है।

बात समझ में आ रही है?

क्षेत्रज्ञ वो चेतना है जो पदार्थ के संयोग से दु:ख पा-पाकर अब पदार्थ का त्याग करना चाहती है, वो गुणों का उल्लंघन करना चाहती है, वो क्षेत्रातीत जाना चाहती है। और वही चेतना जब मुक्ति माँग नहीं रही होती बल्कि मुक्त हो ही जाती है, तो उसको कहते हैं - साक्षी।

तो श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण समझाते हैं कि, "ये क्षेत्र है और क्षेत्रज्ञ है, इनमें भेद करना सीखो, पार्थ! ये जो भेद करने की सीख दी जा रही है इसका अर्थ है, 'विरक्त होना सीखो', पार्थ!" भेद माने दूरी, भेद माने अंतराल। और कहते हैं कि, "अगर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग तुमने ठीक से समझ लिया तो तुम मुझे प्राप्त हो जाओगे।" ये तीन कौन हुए? क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, और कृष्ण माने - आत्मा।

क्षेत्रज्ञ यदि क्षेत्र से पूर्णतया विलग हो गया तो वो साक्षी आत्मा हो जाएगा; आत्मा ही साक्षी है। इसलिए आवश्यक है क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त करना; और इसलिए आध्यात्मिक व्यक्ति को, साधक को, संसार की बड़ी बारीक जानकारी होनी चाहिए। क्योंकि भाई! तुम्हारा बड़ा काम अटका हुआ है संसार में, तुम्हारी बड़ी गरज है।

संसारी आदमी का तो संसार से अधिक-से-अधिक बस भोग का रिश्ता है। उसकी संसार से कुल कितनी गरज है? भोग मिल जाए। अब भोग बड़ी बात है या मुक्ति? मुक्ति। साधक की संसार से कितनी गरज है? मुक्ति मिल जाए। तो संसारी तो अगर संसार को न जाने एक दफ़े तो चल सकता है, क्योंकि संसार से उसका जो काम है, जो स्वार्थ है, वो छोटा-सा ही है, कि संसार तो मुझे इतना ही जानना है कि भोग मिल जाए। कई बार तो भोग बिना संसार को जाने ही मिल जाता है। तो संसारी के लिए अच्छा तो है कि वो संसार को जाने, पर अनिवार्य नहीं है। इतने संसारी हैं उन्हें संसार का कुछ नहीं पता होता, लेकिन उनका काम तो चल ही रहा है न?

कूटस्थ और अंतर्यामी क्या हैं?

आचार्य प्रशांत: फिर पूछते हैं, "कूटस्थ और अंतर्यामी क्या हैं?"

ध्यान दीजिएगा।

कूटस्थ शब्द जितना सुंदर है, जितना विभूति युक्त है, उतना ही रहस्यमयी भी है। कूट शब्द ही एक-दूसरे से जुड़े हुए कई अर्थ रखता है। कूट का एक अर्थ होता है – आधारभूत, प्रतिष्ठा - वो जिसके ऊपर सब कुछ प्रतिष्ठित या आधारित हो। वो जो मूल हो, वो जो बुनियादी हो, उसको कहते हैं - कूट।

इसके ठीक विपरीत और इससे बिलकुल मिला-जुला अर्थ है कूट का- वो जो उच्चतम हो, जो शीर्षस्थ हो। जैसे जब आप कहते हैं – चित्रकूट, तो उससे आपका आशय होता है पर्वत-शिखर। और कूट का एक अर्थ वो भी होता है कि ऐसी वस्तु जो वैसी न हो जैसी वो बाहर से दिखाई देती हो; ऐसी वस्तु जो बाहर से विशेषकर प्रिय दिखाई देती हो पर भीतर से दोषपूर्ण हो। तो माया को भी कूट कहते हैं।

तो कूटस्थ माने फिर क्या हुआ? कूटस्थ माने हुआ कि ये जो पूरी राशि है - समस्त जगत की, संसार की, ब्रह्मांड की, ये जिस आधार पर खड़ी हुई है, 'सत्य' उसका नाम है। सत्य संसार-रूपी पर्वत-राशि की आधारशिला है। जब कहा जाए कि आत्मा कूटस्थ है, तो इसका मतलब कि ये जो पूरी दुनिया है ये तो मिथ्या है, पर इस दुनिया के आधार में जो सत्य है वो आत्मा है। जगत की राशि मिथ्या है, जगत का आधार आत्मा है; जब इस अर्थ में आत्मा को संबोधित या इंगित करना होता है तो हम कह देते हैं, "आत्मा कूटस्थ है।"

दूसरी ओर, जब हमें ये कहना होता है कि इस जगत में ये जितनी भी राशि है वो सब इसलिए है ताकि अंततः तुम उसका आरोहण, अतिक्रमण, उल्लंघन करके उसके शीर्ष पर पहुँच जाओ, तो हम कह देते हैं कि सत्य कूटस्थ है, इस अर्थ में कि वो इस जगत का सर्वोच्च लक्ष्य है और शिखर है; ये दूसरी बात।

और तीसरे अर्थ में, जब कूटस्थ हम कहते हैं तो उसका मतलब होता है कि बाहर-बाहर से ये जो दुनिया है, बाहर-बाहर से ये जो पूरी माया है, ये जैसी प्रतीत हो रही है इसके पीछे जो है वो कूटस्थ आत्मा है; यहाँ पर कूट का अर्थ है - दोष।

समस्त दोषों के नीचे जो निर्दोष है उसको सत्य कहते हैं। समस्त दोषों के नीचे, और पीछे और ऊपर जो है उसको सत्य कहते हैं। तो कूट या कूटस्थ जब कहा जाए वेदान्त में सत्य को, तो उसके ये तीन अर्थ हुए- वो जो सबसे नीचे है, वो जो सबसे ऊपर है, और वो जो पीछे है; ऊपर, नीचे और पीछे। इन तीनों ही अर्थों में

कूटस्थ का प्रयोग होता है। लेकिन जो सबसे ज़्यादा प्रचलित अर्थ है कूटस्थ का, वो 'आधार' है, क्या? आधार; सत्य जगत का आधार है।

तो सामान्यतया जब आप पढ़ेंगे कि आत्मा कूटस्थ है, तो उसका मतलब यही हुआ कि आत्मा अचल है, अटल है, अपरिवर्तनीय है और आधारभूत है, प्रथम है; ये अर्थ होगा कूटस्थ का।

ठीक है?

अब आइए 'अंतर्यामी' पर। अंतर्यामी को उपनिषद् भी ऐसे समझाते हैं कि सत्य या आत्मा वैसे ही अंतर्यामी हैं जैसे माला में मोतियों के बीचों-बीच धागा होता है।

उस धागे का मूल्य क्या है? उसका स्थान क्या है?

वो धागा, पहली बात, दिखाई नहीं देता, तो जो अंतर्यामी है वो दिखाई नहीं देगा। दूसरी बात, वो धागा न हो तो उन मोतियों की जो सुंदर, सुरुचिपूर्ण व्यवस्था है वो चल नहीं सकती। तो अंतर्यामी कौन हुआ? जो भीतर-ही-भीतर बैठकर के बाहरी व्यवस्था का निर्वाह कर रहा है। तीसरी बात, आप मोतियों को देखते हैं बाहर से, और मोतियों के केंद्र से जो धागा गुज़र रहा है वो मोतियों को कहाँ से देखता है? अंदर से। आपको मोतियों की क्या दिखाई देती है - सतह। और धागे को क्या दिखाई देता है - मोतियों का अंतःस्थल। मोती भीतर से कैसा है ये धागा जानता है।

ठीक?

तो अंतर्यामी वो जिसको इस संसार की केंद्रीय असलियत का ज्ञान हो। याम का अर्थ होता है - जगत। अंतर्यामी माने जो भीतरी जगत में वास करता है। तो जो भीतर बैठकर के भीतर की सब सच्चाई जानता है, उसको बोलते हैं - अंतर्यामी।

समझ में आ रही है बात?

अगली बात, मोतियों के किस स्थान पर बैठा हुआ है वो धागा? मोतियों के बिलकुल हृदय में बैठा हुआ है धागा। तो इस संसार के हृदय में जो बैठा हुआ है; आपके हृदय में बैठा हुआ है मोती, वो आपको बहुत लुभाता है, ललचाता है, और मोती के हृदय में कौन बैठा है – धागा; तो संसार में जो कुछ भी आपको मूल्यवान लगता है, उस मूल्यवान को जो मूल्यवान लगता है उसका नाम है अंतर्यामी।

आपको कौन मूल्यवान लगता है - मोती। और मोती के हृदय में कौन बैठा है? तो आपको जो मूल्यवान लगता है, उसको जो मूल्यवान लगता है उसका नाम है अंतर्यामी।

अब शायद बताने की ज़रूरत तो नहीं है न, कि कूटस्थ और अंतर्यामी एक ही तत्व को निरूपित करने वाले दो नाम हैं? तो कूटस्थ कहो, कि अंतर्यामी कहो, इनका प्रयोग आत्मा के लिए ही होता है। बस जब आपको केन्द्रीयता दिखानी होती है आत्मतत्व की, तो आप कह देते हो- अंतर्यामी, और जब आपको आत्मतत्व की अवशिष्टता दिखानी होती है, तो आप कह देते हो - कूटस्थ।

अवशिष्टता क्या है? जो हमने कूटस्थ में चर्चा करी उसमें ये बात रह गई थी। सर्वसार उपनिषद् भी कूटस्थ को ऐसे ही परिभाषित करता है, कहता है, "जब सब कुछ चला जाए, उसके बाद भी जो अवशेष-रूप में अमिट रह जाए उसको कहते हैं - कूटस्थ।"

समझ में आ रही है बात?

ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणिबुद्धिष्ववशिष्टत योपलभ्यमानः

सर्वप्राणिबुद्धिस्थो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते। ॥१०॥

"ब्रह्मा से लेकर पिपीलिका (चींटी) पर्यंत समस्त जीवों की बुद्धि में वास करने वाला और स्थूल आदि शरीरों के विनष्ट हो जाने पर भी जो अवशिष्ट दिखाई देता है, उसे 'कूटस्थ' कहते हैं।"

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक १०

कूटस्थोपहितभेदानां स्वरूपलाभहेतुर्भूत्वा

मणिगणे सूत्रमिव सर्वक्षेत्रेष्वनुस्यूतत्वेन यदा काश्यते

आत्मा तदान्तर्यामीत्युच्यते। ॥११॥

"कूटस्थ आदि उपाधियों के भेदों में स्वरूप (प्राप्त करने के) लाभ के निमित्त जो आत्मा समस्त शरीरों में, माला (के मनकों) में धागे की तरह पिरोया हुआ प्रतीत होता है, उसे अंतर्यामी कहते हैं।"

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक ११

ठीक है?

तो कूट तो सब दोषपूर्ण है। कूट माने? ये जो माया या प्रकृति की सब विपुल राशि है। ये तो सब समय के प्रवाह में है, ये तो जाएगी, लेकिन कूट बचा रह जाएगा, आधार बचा रह जाएगा। कूट माने, माया नहीं बची रह जाएगी, जो आधार अर्थ में कूट है वो बचा रह जाएगा। सबके चले जाने पर भी जो बचा रह जाता है उसे कहते हैं - कूटस्थ।

ये अवशिष्ट शब्द, या अवशेष शब्द कुछ याद दिला रहा है औपनिषदिक संदर्भ में? क्या याद दिला रहा है? अवशेष शब्द कुछ याद दिला रहा है उपनिषदों के संदर्भ में? "पूर्ण से पूर्ण को निकाल देने पर भी पूर्ण का ही अवशेष बचता है।" यहाँ पर उन्हीं अमर मंत्रों की गूँज हमें पुनः सुनाई दे रही है- "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते; पूर्ण ही शेष बचता है।"

तो सब कुछ चले जाने पर भी जो शेष बचे, उसे कूटस्थ कहते हैं। सबके मिट जाने पर जो बचता है अगर वैसे याद करना है सत्य को, तो कहना, "सत्य कूटस्थ " और ये सब कुछ जो बना हुआ है, जो प्रतीत होता है, इसके हृदय में जो वास करता है अगर ऐसे कहकर याद करना है सत्य को, तो कहना, "सत्य अंतर्यामी है।" वो निर्भर करता है कि तुम उसको याद कैसे करना चाहते हो।

ठीक है?

प्रत्यगात्मा क्या है? परमात्मा क्या है?

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

सत्यमविनाशि।

अविनाशि नाम देशकालवस्तुनिमित्तेषुविनश्यत्सु यन्न विनश्यति तदविनाशि।

ज्ञानं नामोत्पत्तिविनाशरहितं नैरन्तर्यंचैतन्यं ज्ञानमुच्यते।

अनन्तं नाम मृद्विकारेषुमृदिव स्वर्णविकारेषु स्वर्णमिव तन्तुविकारेषुतन्तुरिवाव्यक्तादिसृष्टिप्रपञ्चेषु पूर्णं व्यापकंचैतन्यमनन्तमित्युच्यते।

॥१२॥

"सत्य, ज्ञान और अनंत आनंद स्वरुप तथा समस्त उपाधियों से रहित, कटक (कड़ा), मुकुट आदि उपाधियों से विहीन एक मात्र स्वर्ण के समान ज्ञानघन और चैतन्य स्वरुप आत्मा जब भासित (अनुभूत) होता है, उस समय उसे 'त्वं' नाम से सम्बोधित किया जाता है। ब्रह्म को सत्य, अनंत और ज्ञानस्वरूप कहा गया है। अविनाशी ही सत्य है। देश, काल, वस्तु आदि जो निमित्त हैं, उनके विनष्ट हो जाने पर भी जिसका विनाश नहीं होता, वही अविनाशी तत्त्व है। उद्भव और विनाश से परे नित्य चैतन्य तत्त्व को 'ज्ञान' कहा जाता है। मृत्तिका से निर्मित पात्रों-वस्तुओं और मृत्तिका के सामान, स्वर्ण निर्मित आभूषणों से स्वर्णवत्, सूत निर्मित वस्त्रों में सूत्रवत् विद्यमान वह चैतन्य सत्ता जो समस्त सृष्टि में पूर्णतः व्याप्त है, उसे 'अनंत' कहते हैं।"

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक १२

आचार्य प्रशांत: आगे पूछा है कि “प्रत्यगात्मा क्या है और परमात्मा क्या है?” प्रत्यग + आत्मन्। प्रत्यग मतलब बाद में, पश्चात।

आत्मा से जो प्रकट होता है, आत्मा से जो उद्भूत है, उद्भासित है, उस जीव को जीवात्मा या प्रत्यगात्मा कहते हैं। तो जहाँ कहीं भी पढ़ो 'प्रत्यगात्मा', उसको मानना जीव या जीवात्मा। आत्मा से जो आया, वो है प्रत्यगात्मा। ‘प्रत्येक’ नहीं है वो, 'प्रत्यग' अलग है। स्पष्ट है?

आत्मा शब्द वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय है; आत्मा माने सत्य ही होता है, वेदान्त है ही सत्य के प्रतिपादन मात्र के लिए। और आत्मा जैसे पूरे भारत का प्रेम रहा हो। तो आत्मा शब्द भारतीय जनमानस में भी किसी सामान्य शब्द की तरह, किसी प्रचलित घरेलू मुहावरे की तरह व्याप्त हो गया। तो आत्मा का एक व्यावहारिक अर्थ भी निकल आया, वो व्यावहारिक अर्थ ऋषियों ने कदाचित् नहीं दिया था, मैं समझता हूँ, वो जनमानस से आया।

आत्मा का जो जनसामान्य में प्रचलित अर्थ है, वो है मन। लोग कह देते हैं न, “मेरी आत्मा को चोट लगी। मैं आत्मा से बात कर रहा हूँ। मेरी आत्मा बहुत ईमानदार है।” या कि “भगवान उनकी आत्मा को शांति दे।” या “मैं तुम्हें आत्मा से प्रेम करता हूँ।” ये मैंने अभी जितने भी साधारण वाक्य बताए, इन सबमें साझा क्या है? 'आत्मा' का प्रयोग किया जा रहा है 'मन' के लिए; बात की जा रही है मन की, और उसे कहा जा रहा है आत्मा।

ये हुआ मात्र अज्ञान के कारण नहीं है, ये मैं समझता हूँ कि इसलिए हुआ है कि भारत को आत्मा शब्द से ही प्रेम हो गया। आत्मा की बात करनी थी, और ये भी पता था कि शुद्ध मन को भी आत्मा कहते हैं और मन के लक्ष्य को भी आत्मा कहते हैं। तो जैसे लोगों ने कहा कि, “जब विशुद्ध मन आत्मा ही है, जब मन का आधार भी आत्मा है और मन का अंत भी आत्मा है, तो हम मन को मन बोलें ही क्यों? हम मन को आत्मा ही बोल देंगे।”

भाई, लोगों ने कहा, “मन आया कहाँ से? आत्मा से। मन जा कहाँ को रहा है? मन सोच किसको रहा है अंततः? मन को चाह किसकी है? तो मन बोलें ही क्यों?” उन्होंने कहा, “हम आत्मा ही बोलेंगे।” तो फिर ये सब हो गया कि “आत्मा को शांति दे, भगवान।” या “आत्मा तड़प रही है।” इत्यादि-इत्यादि।वहाँ से ही फिर ये शब्द आए हैं — प्रत्यगात्मा, जीवात्मा, परमात्मा, नहीं तो 'आत्मा' काफ़ी है।

आत्मा ही एकमात्र और अद्वितीय, बल्कि अद्वैत सत्य है और आत्मा पर कोई उपाधि नहीं लग सकती। उपाधि समझते हो? उपाधि मतलब किसी चीज़ को किसी दूसरी चीज़ से संयुक्त कर देना, तो वो जो दूसरी चीज़ है, वो पहली चीज़ की उपाधि कहलाती है। समझ रहे हो? जैसे ये सफ़ेद रंग का कपड़ा है, इसको लाल रंग के पानी में डाल दें तो इसकी लाल उपाधि हो जाएगी। और आत्मा पर कोई उपाधि लग नहीं सकती, ये आत्मा के बारे में बड़ी मूलभूत बात है।

तो आत्मा को फिर परमात्मा कहना, या जीवात्मा कहना या प्रत्यगात्मा कहना वास्तव में श्रुतिसूत्रों के विरुद्ध ही है, क्योंकि श्रुति कहती है, “आत्मा के साथ कोई उपाधि जोड़ मत देना।” तो फिर क्यों कहना पड़ा परमात्मा? क्योंकि आत्मा शब्द को तो जनसाधारण ने हथिया लिया, वो 'आत्मा' को ले भागे। इतना सुंदर शब्द है आत्मा, उसको सर्वसाधारण ने अपने कब्ज़े में ले लिया और उसका उपयोग करने लगे किसके लिए? ‘मन’ के लिए।

तो फिर ऋषियों ने कहा, “अच्छा, भाई, आत्मा अगर तुमने ही ले लिया तो फिर हम अपने लिए दूसरा शब्द लेते हैं।” तो उन्होंने जो आत्मा है, विशुद्ध आत्मा, वास्तविक आत्मा, उसको क्या नाम दिया? परमात्मा। वास्तव में आत्मा और परमात्मा तो एक ही हैं। आत्मा में परम का अलंकरण जोड़ने की ज़रूरत क्या है, आत्मा तो है ही परम।

जैसे तुम कहो, “सबसे ऊँचा आसमान”, तो कोई नीचा आसमान भी होता है क्या? तो वैसी ही बात है। जैसे तुम कहो कि “सबसे पूर्ण पूर्णता”, तो कोई अधूरी पूर्णता भी होती है क्या? तुम कहो, “सबसे खाली खालीपन।” तो कोई अधूरी शून्यता भी होती है क्या? तो वैसे ही आत्मा अपने-आपमें परिपूर्ण एवं अनंत है। आत्मा को किसी उपाधि की, किसी विशेषण की, किसी उपसर्ग-प्रत्यय की कोई ज़रूरत नहीं है। लेकिन पूछना पड़ रहा है, देखो, यहाँ शिष्य को गुरु से, “प्रत्यगात्मा क्या है, परमात्मा क्या है?”

तो गुरु यही समझा रहे हैं, कह रहे हैं कि “आत्मा जब उपाधियुक्त हो जाती है और जीव आत्मा को भूल करके उपाधियों से तादात्म्य करने लगता है तो उसको कहते हैं प्रत्यगात्मा। और विशुद्ध चैतन्य, मुक्त चेतना को कहते हैं परमात्मा।” इस बात को उपनिषद् ने बड़े सुंदर उदाहरण के माध्यम से समझाया है।

उपनिषद् कहते हैं कि “तत्वमसि, जानते हो न शिष्य? ‘तत् त्वम् असि', सुना है न?” तो “मैं देख रहा हूँ”, शिष्य ने हुंकार भरी, “हाँ।” तो ऋषि कह रहे हैं, “तत् है परमात्मा और त्वम् है प्रत्यगात्मा। ‘वह’ परमात्मा है, ‘तुम’ प्रत्यगात्मा हो। लेकिन तुम प्रत्यगात्मा हो करके परमात्मा सिर्फ़ तब हो जब तुम परमात्मा से प्रेम रखो, मुक्ति की आकांक्षा रखो और अपनी चेतना को अनंत ऊँचाइयों तक ले जाओ, अनंत ऊँचाइयों तक।”

अब इस अनंत शब्द का ही प्रयोग करके गुरु ने आगे एक बात कही, गुरु ने कहा, “परमात्मा वो जो प्रत्यगात्मा को सच्चिदानंद घन अनंत का अनुभव करा दे।” क्योंकि ये जो प्रत्यगात्मा है या जीवात्मा, ये तो अनुभवों में ही रहता है न? परमात्मा को कोई अनुभव नहीं हो सकते क्योंकि सब अनुभव द्वैत में होते हैं और परमात्मा अद्वैत है, तो परमात्मा को तो कोई अनुभव होते नहीं। पर जो प्रत्यगात्मा माने जीव है, वो तो अनुभवों में ही रहता है।

इसको अगर उपनिषद् की भाषा में कहें तो सत्य का, ज्ञान का, आनंद का और अनंतता का कुछ पता लगने लगे तो ये प्रत्यगात्मा परमात्मा के निकट पहुँच रहा है। और पता लगते-लगते, पता लगने की प्रक्रिया में, पता लगने के कारण ही, जिसको पता लग रहा है, वो पता लगने वाली वस्तु में ही युक्त हो जाए, समाहित हो जाए, लीन हो जाए तो फिर दोनों बिलकुल एक ही हो गए, 'तत्वमसि', योग हो गया, मिल गए, लय हो गया।

साधारणतया प्रत्यगात्मा परमात्मा से बड़ी दूर है, ठीक वैसे जैसे मन आत्मा से दूर ही रहता है, एक हो करके भी दूर रहता है। ईशावास्य कहता है न, “तद्दूरे तद्वंतिके; जो तुम्हारे बिलकुल पास का है, तुम उसी से बहुत दूर हो।” तो वैसे ही मन और आत्मा का रिश्ता है, वो तुम्हारे बहुत पास का है फिर भी तुम उससे बहुत दूर हो। लेकिन इतनी सामर्थ्य है और इतना सौंदर्य है उस दूर की चीज़ में कि वो तुमको विवश कर देती है अपने निकट आने में। कैसे विवश कर देती है?

वो तुमको ये अनुभव दिला देती है, ऐसे अनुभव जो बिलकुल तुम्हें भौंचक्का कर देते हैं, तुम्हारे होश उड़ा देते हैं, तुम्हें उस परम लक्ष्य के प्रेम में डाल देते हैं, उसके बंधन में डाल देते हैं; सत्य का अनुभव, आनंद का अनुभव, ज्ञान का अनुभव और अनंतता का अनुभव।

ऐसा है वो परमात्मा। मात्र वही है जो तुम्हें झटका दे सकता है, जो तुम्हें बुरी तरह चौंका सकता है क्योंकि तुम्हारे सारे अनुभव क्षुद्रता के हैं, सीमित संसार के हैं और वो तुमको तुम्हारी सीमाओं से बाहर का कुछ अचानक दिखा देगा। तुम भौंचक्के रह जाओगे, “ये क्या जादू? अचरज, अचरज!”

इसी तरीके से ज्ञान: तुम्हारे सारे अनुभव अज्ञान के हैं, अंधेरे के हैं। 'वो' अकेला है जिसका संसर्ग तुम्हें ज्ञान दिला देता है, और जहाँ ज्ञान है, वहाँ अद्भुत आश्चर्य है, तुम्हें उसकी ओर बढ़ना ही पड़ेगा।

अध्यात्म और कुछ नहीं है — मन को समझना और मन का जो सबसे गहरा रिश्ता है, उसको उजागर कर देना।

गहरा रिश्ता बनाना नहीं, वो गहरा रिश्ता है; मन अस्तित्वमान हो ही नहीं सकता बिना उस गहरे रिश्ते के। वो गहरा रिश्ता है, पर मन उस गहरे रिश्ते को जैसे किसी अंधेरे तहखाने में दबा-छुपाकर रखता है, उसको प्रकाशित ही नहीं करता, उसको प्रकट ही नहीं करता, उसको स्वीकार ही नहीं करता।

अध्यात्म का काम है, तुम्हारा वो जो सबसे गहरा, सबसे पवित्र और जो सबसे केंद्रीय रिश्ता है, जिसको तुम अपनाने से ही इंकार कर रहे हो मूर्खतावश, उसको उद्घाटित कर देना — ये अध्यात्म का काम है।

उपनिषद् के शब्दों में:

आनन्दं नाम सुखचैतन्यस्वरूपोऽपरिमितानन्द समुद्रोऽवशिष्टसुखस्वरूपश्चानन्द इत्युच्यते।

एतद्वस्तुचतुष्टयं यस्य लक्षणं देशकालवस्तुनिमित्तेश्वव्यभिचारी तत्पदार्थः परमात्मेत्युच्यते।॥१३॥

“जो सुख स्वरूप, चैतन्य स्वरूप, अपरिमित आनंद का सागर है और अवशिष्ट सुख का स्वरूप है, उसे 'आनंद' कहते हैं। सत्य, ज्ञान, अनंत और आनंद वस्तु बोधक पद जिसके लक्षण हैं तथा देश, काल, वस्तु आदि निमित्तों के रहते भी जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, उसको ‘तत्' पदार्थ अथवा ‘परमात्मा' कहते हैं।”

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक १३

माया क्या है?

आचार्य प्रशांत: आगे पूछा है कि “माया क्या है?”

माया क्या है? जितना कहा जाए, कम है। इस बीच दो और व्याख्याएँ ऐसी आयी हैं जो प्रश्नों में नहीं हैं पर महत्वपूर्ण हैं, तो उनकी चर्चा करेंगे।

एक है 'लिंग शरीर'। लिंग शरीर क्या है? ऋषि समझाते हैं कि “आत्मा की जो मायावी ग्रंथि है अनात्मा से, उसे कहते हैं हृदय-ग्रंथि, और उस ग्रंथि के कारण जो परिणाम उत्पन्न होता है, उसको कहते हैं लिंग शरीर।” वास्तव में जो आपका मानसिक जगत है, जो आपका सूक्ष्म शरीर है, वही कहलाता है लिंग शरीर।

उपनिषद् को उद्धृत किए देते हैं:

मन आदिश्चप्राणादिश्चेच्छादिश्च सत्त्वादिश्च पुण्यादिश्चैतेपञ्चवर्गा इत्येतेषां पञ्चवर्गाणां धर्मीभूतात्माज्ञानाद्दते न विनश्यत्यात्मसन्निधौ नित्यत्वेनप्रतीयमान आत्मोपाधिर्यस्तल्लिङ्गशरीरंहृद्ग्रन्थिरित्युच्यते।॥७॥

“मन आदि (अंतःचतुष्टय), प्राण आदि (चौदह प्राण), इच्छा आदि (इच्छा-द्वेष), सत्त्व आदि (सत्, रज, तम) और पुण्य आदि (पाप-पुण्य), इन पाँचों को पंचवर्ग कहा जाता है। इनका धर्मी (धारक) बनकर जीवात्मा ज्ञानरहित होकर इनसे मुक्ति नहीं पा सकता। मन आदि जो सूक्ष्म तत्त्व हैं, इनकी उपाधि सदैव आत्मा के साथ लगी प्रतीत होती है, जिसे लिङ्ग शरीर कहते हैं, वही हृदय कि की ग्रंथि है।“

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक ७

हृदय की ग्रंथि की चर्चा रमण महर्षि अक्सर किया करते थे।

हृदय की ग्रंथि कौन सी ग्रंथि है? जहाँ पर सत्य से संसार उद्भूत हो जाता है। लोग पूछते हैं न कि 'निराकार से साकार और निर्गुण से सगुण आ कैसे गया?' तो उसी को दर्शाने के लिए हृदय ग्रंथि का सिद्धान्त दिया गया है। एक ग्रंथि है, जैसे एक गाँठ है, जहाँ जो निर्गुण है माने जो प्रकृति के पार है, वो सगुण से मिलता है। सगुण माने जिसमें प्रकृति के गुण आ गए। और जिस बिन्दु पर ये मिलन होता है, जहाँ गाँठ लगती है इन दोनों में—ग्रंथि माने गाँठ, जहाँ गाँठ लगती है इन दोनों में, दो अलग-अलग चीज़ों को गाँठ लगाकर बाँधा जाता है — उसको कहते हैं हृदय ग्रंथि।

और उस ग्रंथि के फलस्वरूप जो शरीर उत्पन्न होता है, उसी को कहते हैं लिंग शरीर। तो लिंग शरीर आपका सूक्ष्म शरीर है, मन आदि। और फिर उस मन से आगे पूरे संसार का, जीव का, शरीर का सबका प्रक्षेपण हो जाता है।

जब 'तत्वमसि' की बात हो रही है, "तत् त्वम् असि, श्वेतकेतु!" तो वहाँ पर शुद्धता को ध्यान में रखते हुए उपनिषद् के ऋषि हमें एक बात और स्पष्ट कर देते हैं। देखिए, सत्य शुद्ध है, इसीलिए सत्य से संबंधित जितने वक्तव्य भी उपनिषदों में हैं, उनमें शुद्धता का बहुत ध्यान रखा गया है। इसीलिए एक ही बात को बहुत-बहुत तरीकों से दोहराकर और भाँति-भाँति के उदाहरणों से समझाया गया है ताकि आप उन बातों में अपनी ओर से कोई मेल-मिलावट, मिश्रण ना कर लें।

तो इसी तरीके से एक बार कह दिया कि 'तत्वमसि' में 'तत्' परमात्मा है और 'त्वम्' प्रत्यगात्मा है, तो आगे बात को शुद्ध रखने के लिए एक चीज़ और जोड़ी, कहा कि "सुनो! जो परब्रह्म है, उसके लिए कोई शब्द नहीं हो सकता, तो तुम उस 'तत्' को भी आख़िरी मत जान लेना", क्योंकि हम 'तत्' को ब्रह्म ही समझते हैं। तो कहा, "लेकिन अब ये तो वो ब्रह्म हो गया न जिसको तुमने नाम दे दिया, चूँकि इसको नाम दे दिया, तो इसके लिए इससे आगे भी कुछ होगा।"

जो भी चीज़ अब नामयुक्त हो गई, वो चीज़ अब उपाधियुक्त हो गई, वो चीज़ अब मानसिक हो गई, क्योंकि सब नाम मन से ही आते हैं, सब नाम मानसिक व्याख्याओं और स्मृतियों के अंतर्गत ही होते हैं। तो इसीलिए अगर तुम कहोगे कि 'तत्' ब्रह्म है, तो तुमने ब्रह्म को ज़रा गिरा दिया, क्योंकि तुमने ब्रह्म को नाम दे दिया; नाम ही नहीं दे दिया, तुमने ब्रह्म की ओर इशारा कर दिया, तुमने बोल दिया 'तत्'। हालाँकि बड़े आदर के साथ ये इशारा किया गया है, देखो न संकेत में भी बस इतना कहा — तत्, दैट (वह), पूरा नाम भी नहीं लिया। लेकिन पूरा नाम ना लेने के बावजूद सिर्फ़ 'तत्' कह देने पर भी थोड़ी अशुद्धि आ गयी। तुमने 'तत्' भी क्यों कह दिया? तुम्हें तो मौन हो जाना चाहिए था।

अगर तुम्हें ब्रह्म की बात करनी है तो सारी बात रोकनी होगी। अगर तुम्हें ब्रह्म की बात करनी है तो बात करने का एक ही तरीका है कि तुम ब्रह्म हो जाओ। तुम 'तुम' रहकर 'ब्रह्म' की बात कर रहे हो तो तुमने ब्रह्म की बात नहीं करी, तुमने अपनी ही जैसी किसी चीज़ की बात कर दी। अब तुमने जिस ब्रह्म की बात करी, वो ब्रह्म नहीं है, वो ब्रह्म से नीचे की कोई चीज़ है तुम्हारे ही जैसी। और अगर तुम कह रहे हो कि तुम ब्रह्म की बात कर सकते हो, तो फिर तो तुम ही ब्रह्म हो। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' — जो ब्रह्म की बात कर सकता

है, वो तो ख़ुद ही ब्रह्म होगा। और अगर तुम ब्रह्म हो, तो बात क्यों कर रहे हो? इसका मतलब तुमने जो बात करी, वो ब्रह्म की तो है नहीं। लेकिन तुमने अपनी बातचीत में 'ब्रह्म' शब्द का उपयोग कर दिया।

“तो अब हम ऐसा करते हैं कि 'ब्रह्म' शब्द तो तुमने दूषित कर दिया तो वास्तविक ब्रह्म को इंगित करने के लिए अब हम कहेंगे 'परब्रह्म'। ठीक वैसे, जैसे वास्तविक आत्मा को इंगित करने के लिए हम कह रहे थे 'परम-आत्मा'। तो जैसे वहाँ कहा था परम-आत्मा, तो ऐसे ही अगर तुम ब्रह्म के साथ छेड़खानी करोगे तो हम कह देंगे परब्रह्म।

ये जो पूरा यहाँ प्रयास है, वो एक ट्रांसेंडेंस (श्रेष्ठता), आतीत्य बचाए रखने का है, कि “देखो, छुओ मत।”

“तुम अगर उसे छू दोगे तो वो चीज़ असली नहीं रह गई, और अगर तुमने उसको छू लिया तो असली चीज़ को हम कोई और नाम दे देंगे। अगर तुम आत्मा को छू लोगे और आत्मा के बारे में सौ तरह की बातें करने लगोगे कि ‘देवी, मेरी आत्मा तुमसे प्रेम करती है’, ऐसे, तुम आत्मा के बारे में इस तरह की बात करोगे तो हम कहेंगे असली चीज़ फिर परमात्मा है।

इसी तरह से अगर तुम ब्रह्म शब्द का दुरुपयोग करना शुरू कर दोगे तो फिर हम कह देंगे कि असली चीज़ परब्रह्म है।” ये पूरी कोशिश हो रही है उस परम सत्य की शुद्धता को बचाए रखने की। किसी तरीके से ऋषि चाहते हैं कि परम सत्य कहीं हमारा कोई मानसिक सिद्धान्त या कल्पित स्वप्न न बनकर रह जाए, उसको वो सुदूर और अस्पर्शित ही रखना चाहते हैं, उसको वो हमारे मन से बहुत आगे का ही रखना चाहते हैं।

तो इसलिए फिर ऋषि 'तत्वमसि' का उदाहरण लेने के बाद शिष्य को ये भी स्पष्ट कर देते हैं, कहते हैं, “देखो, जो ‘तत्’ कहा गया है यहाँ पर, वो असली नहीं है, असली तो 'परब्रह्म' है।” ताकि शिष्य कहीं इस गुमान में ना आ जाए कि “अभी-अभी तो मैंने ब्रह्म को शब्दों में अभिव्यक्त कर दिया”, नहीं कर सकते, भाई! और अगर अभी-अभी तुमने किया है, तो तुमने जिस चीज़ को किया है, वो चीज़ ही कोई छोटी चीज़ होगी।

माया। तो क्या कहते हैं ऋषि?

त्वंपदार्थादौपाधिकात्तत्पदार्थादौपाधिक भेदाद्विलक्षणमाकाशवत्सूक्ष्मं केवलसत्तामात्रस्वभावं परं ब्रह्मेत्युच्यते।

माया नाम अनादिरन्तवतीप्रमाणाप्रमाणसाधारणा न सती नासती न सदसती स्वयमधिका विकाररहिता निरूप्यमाणासतीतरलक्षणशून्या सा मायेत्युच्यते।

अज्ञानं तुच्छाप्यसतीकालत्रयेऽपि पामराणां वास्तवी चसत्त्वबुद्धिर्लौकिकानामिदमित्थमित्यनिर्वचनीया वक्तुं न शक्यते।

॥१४-१५॥

“’तत्’ और ‘त्वं’ ये दोनों ही पदार्थ उपाधियुक्त भेदों से भिन्न, अंतरिक्ष की तरह सूक्ष्म, केवल सत्तामात्र स्वभाव वाला होने से परब्रह्म कहा जाता है। जो अनादि है, विनष्टप्राय है, जो न सत् है और न असत्। जो

स्वयं ही सबसे अधिक विकाररहित प्रतीत होती है तथा अन्य लक्षणों से शून्य है, उस शक्ति को 'माया' कहते हैं। उसका वर्णन किसी अन्य प्रकार से नहीं किया जा सकता। यह माया शक्ति तुच्छ, अज्ञान स्वरूप और मिथ्या है, परन्तु मूर्खों को यह सदैव वास्तविक प्रतीत होती है, इसलिए सुनिश्चित रूप से 'यह कैसी है', यह बताना संभव नहीं है।"

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक १४-१५

'यह कैसी है', ये बताना संभव नहीं है। फिर भी दो-चार बातें कह दी हैं। अनादि है, कुछ पता नहीं लगेगा आयी कहाँ से, कह नहीं सकते कहाँ से आयी। कारण है, क्यों नहीं पता लगता कि कहाँ से आयी? समझना।

माया माने दु:ख, माया माने झंझट, उलझाव, है न? आप आमतौर पर जहाँ भी कहीं दु:ख या उलझाव देखते हैं, क्या आप ऐसा पाते हैं कि लोग ईमानदारी से उत्सुक हैं उन दुखों का उन्मूलन करने में कि "ये दु:ख मिट जाए"? अगर लोगों को चुनाव दिया जाए कि आपको दु:ख मिटाना है या ये पता करना है कि आपको दु:ख देने वाला कौन है, तो आपकी अधिक रुचि किसमें है?

मैं आपसे पूछूँ, "अभी आपको कोई पीछे से पत्थर मार कर भाग गया, आपकी पीठ में दर्द हो रहा है। भाई, तत्काल एक लेप लगा करके मैं आपका दर्द मिटा सकता हूँ।" और, "भाई, मैं आपको बता सकता हूँ कि आपको पत्थर किसने मारा था, लेकिन उसके लिए आपको लेप वगैरह छोड़कर मेरे साथ भागना होगा, उसका पीछा करना होगा।" अधिकांश लोग किसमें रुचि दिखाते हैं? "नहीं, पता तो चले मारा किसने है! दर्द का इंतज़ाम बाद में कर लेंगे।"

ऋषि की दृष्टि उलटी होती है, वो कहते हैं, "कारण नहीं जानना।" आदि माने उद्गम, और कहाँ से आया। कहते हैं, "माया कहाँ से आयी, नहीं जानना। माया अनादि होगी, अनंत तो नहीं है न?"सत्य में और माया में यही अंतर है — अनादि दोनों हैं, लेकिन सत्य अनंत है और माया सांत है, माया का अंत लाया जा सकता है।

ऋषि की दृष्टि माया का आदि जानने में नहीं है, माया का अंत करने में है। और जो माया का आदि जानने को उत्सुक हो गया, वो माया का अंत कर ही नहीं पाएगा, क्योंकि उसकी दृष्टि अंत की ओर है ही नहीं। ऋषि तो ये पूछता है कि "बताओ, ख़त्म कैसे करें?" क्योंकि माया कार्य-कारण की प्रक्रिया का दूसरा नाम है। माया का अर्थ ही है श्रम और परिणाम; मूल और फल; कर्ता और भोक्ता; किया और पाया। तो जो ये जानने में उलझ गया कि "ये जो अभी मुझे परिणाम मिला है किसी चीज़ का, वो चीज़ क्या है?" वो वास्तव में परिणाम की प्रक्रिया का अंत नहीं कर रहा, वो परिणाम की प्रक्रिया में और उलझ रहा है।

भाई, माया ने ही आपको परिणाम दिया, और माया है क्या? कार्य और परिणाम की श्रृंखला का ही नाम माया है। उस परिणाम के वशीभूत होकर या उस परिणाम से आवेश में आकर आप अगर इसी बात में उत्सुक हो गए कि "ये सब आ कहाँ से रहा है, मुझे पीछे-पीछे और जाना है", तो आप पीछे जाने की प्रक्रिया में माया से मुक्त नहीं हो रहे, माया में और आप रुचि दर्शा रहे हैं।

"अच्छा! ये कहाँ से आया, फिर वो कहाँ से आया, फिर वो कहाँ से आया?" ये मुक्ति का रास्ता नहीं है, क्योंकि वैसे भी जो ये कार्य-कारण की श्रृंखला है, ये अनंत कड़ियों की है, आप कितना पीछे जाएँगे? और जितना आप पीछे जाएँगे, उतना आपकी पीछे जाने में रुचि या तो बढ़ती जाएगी या आप थकते जाएँगे।

आप अगर थकते भी जा रहे हो तो ये सत्य के प्रति आपकी अरुचि का द्योतक हो गया, मतलब आप माया में फँस गए। और अगर आप बढ़ते जा रहे हो तो ये माया के प्रति आपकी रुचि का द्योतक हो गया, मतलब आप माया में फँस गए। दोनों ही स्थितियों में माया का आदि तलाशना सत्य की ओर बढ़ने वाला कदम नहीं है।

तो इसीलिए उपनिषद् और वेदान्त ये नहीं कहते कि वो आपको सब दुखों के कारण का ज्ञान दिला देंगे। ज्ञान से क्या हो जाएगा? वो कहते हैं कि वो सब दुखों का निवारण कर देंगे। 'नेति-नेति' की प्रक्रिया में ज्ञान नहीं अर्जित किया जाता, माया, या मिथ्या या मिथ्या पदार्थों के विषय में, 'नेति-नेति' की प्रक्रिया में वैराग्य अर्जित किया जाता है।

किसी विषय के बारे में ज्ञान अर्जित करना आवश्यक नहीं है कि उस विषय से मुक्ति दिला देगा; उस विषय से मुक्ति होती है उसके बारे में ज्ञान नहीं अपितु वैराग्य अर्जित करके। अगर ज्ञान उस विषय के बारे में अर्जित भी करना है तो इस दृष्टि के साथ करना होता है कि यह ज्ञान मुझे मुक्ति कैसे दिलाएगा।

दो तरह का ज्ञान होता है, एक — आप विषय के बारे में जानते हो ताकि आप विषय में और लिप्त हो जाओ, दूसरा — आप विषय के बारे में जानते हो ताकि आप विषय से मुक्त हो जाओ। लिप्तता हेतु है या मुक्तता, आपकी दृष्टि का ये अंतर ही सब कुछ निर्धारित कर देता है।

तो माया अनादि है। कहाँ से आयी, मत पूछो। जब तुम कहते हो, "कहीं से तो आयी होगी?" तो देखो न तुमने क्या स्वीकार कर लिया, तुमने ये स्वीकार कर लिया कि "है तो।"

दो घूम रहे हैं, एक शराबी है और उसको चीज़ें दिखाई पड़ रही हैं। कभी वो कहता है, "मेरे हाथ में अठारह अंगुलियाँ है", उसको दिखाई पड़ रही हैं, उसको बहुत सारी चीज़ें दिखाई पड़ रही हैं। तो वो दूसरे से पूछता है, "ये सामने से अभी बिल्ली गुज़री, कहाँ से आयी?" गुज़रा कुछ नहीं है, यूँ ही बस हवा, छाया। पर भाई, जब नशा चढ़ा हो तो कुछ भी प्रतीत हो सकता है न? तो ये साहब कह रहे हैं, "कहाँ से आयी?" और दूसरा कह रहा है, "मैं इसके स्रोत का पता लगाकर आता हूँ कि आयी कहाँ से।" तो शराबी एक है या दो यहाँ पर? बोलो।

जो है ही नहीं अगर तुम उसके आदि का पता करने निकल पड़े तो तुम भी ये मान रहे हो न कि 'है तो'? है ही नहीं। माया का आदि क्या खोजना, बस ये जान लो कि जो नहीं है, उसको माया कहते हैं। जो नहीं है, उसको माया कहते हैं। तो उसका अंत हो गया न, अब उसका आदि क्या खोज रहे हो?

जितना ज़्यादा तुम उसका आदि खोजने चलोगे, उतना तुम उसमें लिप्त होते जाओगे; वो है ही नहीं।

जितना ज़्यादा तुम कहते हो कि 'मुझे पता लगाना है कि ये घटना घटी कैसे', उतना ज़्यादा तुम अपनी हस्ती को मान्यता दे रहे हो न? क्योंकि वो घटना किसके साथ घटी है? तुम्हारे साथ। उस घटना के होने का प्रमाणकर्ता कौन है?

तुम। तो जब तुम कहते हो, "मैं उस घटना के बारे में कुछ पता लगा रहा हूँ, कोई घटना थी तो ज़रूर", तो तुम वास्तव में ये कह रहे हो, "मैं हूँ तो ज़रूर।" ये अहम् की रक्षा के लिए तुम काम कर रहे हो।

कुछ हुआ, और तुम कह रहे हो, "मुझे पता करना है कि मुझे जो अनुभव हुआ, वो क्यों हुआ?" तो तुम ये थोड़े ही कह रहे हो कि "मैं पता करूँ कि जिसे अनुभव हुआ, वो कहीं नकली, या बेहोश या नशेड़ी तो नहीं है?" ये तो तुम पूछना ही नहीं चाह रहे। तुम कह रहे हो, "नहीं, जिसे अनुभव हुआ वो तो सीधा, सच्चा, सही आदमी है। वो ठीक है, मुझे अनुभव के बारे में पता करना है।" ये कह करके तुम ख़ुद को ज़बरदस्ती मान्यता दे रहे हो न?

तो इसीलिए माया अनादि है। "कहाँ से आयी?", अगर ये पूछना ही है तो बस इतना कह दो, "मेरी बेहोशी से आयी।" माया कहाँ से आयी? माया का आदि क्या है? "मेरी बेहोशी। ब्रह्म ने भी नहीं भेजी, मेरी बेहोशी ने भेजी, मेरा चुनाव है माया। मैं होश भी चुन सकता था, मैं नशा भी चुन सकता था, मैं ज्ञान भी चुन सकता था, मैं अज्ञान भी चुन सकता था, मैं जागृति भी चुन सकता था और मैं स्वप्न भी चुन सकता था; मैंने चुना है नशे को, मद मेरा चुनाव है।"

सत् की जगह मद को चुनना — ये माया है।

"माया कहाँ से आयी? मेरे चुनाव से आयी। मैं कहाँ से आया? मैं ख़ुद अपना चुनाव हूँ।"

"मैं हूँ।" ये कहने का भी चुनाव या निर्णय किसका है? मेरे होने का भी प्रमाण कौन है मेरे अलावा? आप कहेंगे, "नहीं, वो सामने बैठा हुआ है, वो भी मानता है कि मैं हूँ।" वो जो सामने बैठा है, वो भी 'है', ये कौन मानता है? ये तो तुम ही मानते हो न? तो इस बात का प्रमाण क्या है कि तुम हो भी, और तुम्हारी पूरी दुनिया है भी, और तुम्हें जितने अनुभव हो रहे हैं, वो हो भी रहे हैं? तुम्हारे अलावा कौन प्रमाण है?

माया का स्रोत अगर पता करना है तो कह दो, "मैं ही हूँ माया का स्रोत, मेरी मूर्खताएँ।" तो इसीलिए ऋषि कह रहे हैं कि "पामरों को"—पामर माने मूढ़ पुरुष—कि "पामरों को माने मूढ़ों को ये माया हर समय असली ही प्रतीत होती है। इसीलिए हे शिष्य! मैं तुम्हें इसके बारे में क्या बताऊँ। जो चीज़ पूरी दुनिया को असली लग रही हो, उसको माया कहते हैं।" और ऋषि ने यहाँ बहुत सामाजिक शालीनता की परवाह भी नहीं करी है, सीधे कह दिया है — पामर। कह दिए, "माया है किसके लिए? तुम पूछ रहे हो कि माया कहाँ से आयी। मैं कह रहा हूँ जो पामर है, उसी के लिए माया है; है ही नहीं, हम चर्चा क्या करें उसकी।"

जैसे कोई सुबह-सुबह तुम्हारे पास उठकर आए और कहे, "वो जो अभी दो घण्टे पहले मुझे तीन पूँछ वाला बंदर दिखाई दे रहा था, बताओ कहाँ से आया?" सो रहा था, सोकर उठकर आया, बोल रहा है, "वो अभी थोड़ी देर पहले मैं तीन पूँछ वाला बंदर देख रहा था, बताओ वो कहाँ से आया?" और तुम भी उसी के समान उत्सुक हो जाओ वो तीन पूँछ वाले बंदर की तहक़ीक़ात करने में, तो एक नहीं, दो पामर हैं।

खूब चलता है ये इस दुनिया में। एक आएगा और वो कोई मायावी, मिथ्या फूल खिला देगा अचानक, और दूसरे को उसकी खुशबू भी आने लगेगी। दूसरा कहेगा, "मैं बता रहा हूँ न, मुझे भी खुशबू आयी।"

पूरब में ऐसे कहते हैं कि मामा-भाँजा चले जा रहे थे एक, और दोनों को शौक़ था फेंकने का। और यथा मामा तथा भाँजा, खून का रिश्ता है! अब चले जा रहे हैं दूर कहीं, गंगा से करीब दो-सौ मील दूर हैं। मामा बोलते हैं, "सुनाई पड़ रहा है मुझे, बारिश खूब हो रही है और गंगा में बाढ़ आयी हुई है।" भाँजा क्यों पीछे रहे, भाँजा बोला, "हाँ, मामा, अभी कुछ छींटे भी पड़े हैं।" एक ने हवा बनायी, दूसरे ने बात फैलायी; एक ने सिद्धान्त खड़ा किया, दूसरा उस सिद्धान्त के पक्ष में प्रमाण भी ले आया।

जैसे कि कुछ विचारधाराएँ हैं जो यूरोप में जन्मीं हैं, पर हमारे बुद्धिजीवी और विचारक लोग उनके प्रमाण भारत में आविष्कृत कर लेते हैं। वो कहते हैं, "देखो, अभी भारत में जो कुछ हो रहा है, ये बिलकुल वही हो रहा है जो दो-सौ साल पहले यूरोप में हो रहा था।" ये है झूठा फूल खिलाना और फिर उसकी खुशबू में ख़ुद ही मदमस्त हो जाना — ये माया है। ये कहाँ से आती है? ये तुम्हारे नशे से आती है। तो इसलिए ये अनादि है। अनादि क्यों? यही क्यों नहीं कह देते कि इसका स्रोत है आदमी का नशा? यही क्यों नहीं कह देते कि माया का स्रोत 'मैं' है? कहो।

क्योंकि चीज़ भले ही झूठी हो, उसका स्रोत जब बताओ तो स्रोत तो कम-से-कम असली हो बाबा! माया चीज़ नकली है, उसका स्रोत भी 'मैं' है, जो कि नकली है, तो क्या स्रोत बताएँ! एक नकली चीज़ का दूसरा नकली स्रोत, एक नकली सिद्धान्त का दूसरा नकली प्रमाण। तो कौन किसका स्रोत है, क्या बताएँ! तो इसीलिए उसको कह देते हैं, "अनादि है।" पर अंत हो सकता है उसका।

सपना कहाँ से आया, कुछ कहा नहीं जा सकता, लेकिन झँझोड़कर जगा दे तो, अंत हो सकता है उसका। विनष्टप्राय है, क्योंकि सपना तो सपना है, टूटता है; विनष्टप्राय है माया। लुभावनी लगे, कि डरावनी, एक बात पक्की है — बीतेगी। ना सत् है, ना असत्; मज़ेदार बात ये है कि यही बात ब्रह्म के लिए और सत्य के लिए भी कही जाती है, कि वो ना सत् है, ना असत्। पूछो, क्यों? माया को क्यों कहते हैं 'ना सत् है, ना असत्'? क्योंकि 'सत् है' कहा, या 'असत है' कहा, दोनों ही स्थितियों में 'है' कहा; दोनों ही स्थितियों में मान लिया कि 'है तो'। कहा, "असत् 'है'।" अरे! क्यों उसको इतनी प्रतिष्ठा दें कि उसको कहें कि 'है'? जो है ही नहीं, उसको माया कहते हैं। तो क्या सत्, क्या असत्!

"या मा सा माया।" 'मा' माने 'नहीं'। जो नहीं है, उसको कहते हैं माया; जो ना होते हुए भी अपने होने का अनुभव करा जाए, उस अलबेली को कहते हैं माया। जो सब विकारों का कारण है लेकिन सबसे अधिक विकाररहित प्रतीत होती है, वो माया है।

जिन्होंने संसार के अनुभव चखे हैं, उन्हें जैसे कुछ बातें याद आ रही होंगी अपने पुराने अनुभवों के बारे में, कि जो चीज़ें बाद में सबसे ज़्यादा दोषपूर्ण और विकारपूर्ण नज़र आयीं, वो आरंभ में उतनी ही निर्दोष और निर्विकार लगती थी न? ये दोषमुक्त से दोषयुक्त कैसे हो गया मामला, और वो भी कई बार बस दो-महीने के अंदर-अंदर? कैसे हो जाता है कि जो चीज़ पहले प्राणों से प्यारी लगती थी, वो चीज़ कुछ दिनों बाद प्राणों की प्यासी लगती है, ये कैसे हो जाता है?

तो ऋषि महाराज ने कई हज़ार साल पहले ही कह दिया था कि जो सब विकारों का मूल होते हुए भी बड़ी विकाररहित मालूम हो, कि "इसमें तो कोई कमी ही नहीं, कोई दोष नहीं, आहाहा! क्या निष्पाप, निश्छल सत्यता और सौंदर्य है!" उसी को कहते हैं माया।

आगे कुछ कहते नहीं, श्लोक का अंत जानते हो कैसे होता है? "वक्तुं न शक्यते।" शक्य माने संभव। कि "बेटा! बता पाना संभव नहीं है, या तो स्वाद चखो या इससे मुक्त हो जाओ, यही दो तरीके हैं। बातचीत से नहीं होगा।" ज़्यादा पूछोगे तो किसी भी जानने वाले का जवाब यही होगा, क्या? "वक्तुं न शक्यते। नहीं बता सकते भाई! या तो समझ जाओ जितना बोल दिया उतने में, नहीं तो..."

तो ये बड़ी सांकेतिक बात है कि पूरे उपनिषद् का आख़िरी प्रश्न था; हालाँकि माया पर ऋषि रुकते नहीं हैं। शिष्य का आख़िरी प्रश्न यही है, "माया क्या है?", ऋषि वहाँ रुकते नहीं हैं, ऋषि आगे कुछ और भी बातें कहते हैं। क्या कहते हैं ऋषि, हम सुनेंगे।

उपसंहार

आचार्य प्रशांत: "मेरा कभी जन्म नहीं होता," माया के बाद ऋषि अचानक इसपर आ जाते हैं, जबकि ये बात तो शिष्य ने पूछी भी नहीं। शिष्य तो यहीं तक पूछ कर रुक गया कि "माया?" पर ऋषि अपनी ओर से कुछ अतिरिक्त बातें बताते हैं।

कहते हैं;

नाहं भवाम्यहं देवो नेन्द्रियाणि दशैव तु।

न बुद्धिर्न मनः शश्वन्नाहङ्कारस्तथैव च।।

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो बुद्ध्यादीनां हि सर्वदा।

साक्ष्यहं सर्वदा नित्यश्चिन्मात्रोऽहं न संशयः।।

नाहं कर्ता नैव भोक्ता प्रकृतेः साक्षिरूपकः।

मत्सान्निध्यात्प्रवर्तन्ते देहाद्या अजडा इव।।

स्थाणुर्नित्यः सदानन्दः शुद्धो ज्ञानमयोऽमलः।

आत्माहं सर्वभूतानां विभुः साक्षी न संशयः ॥१६-१९॥

"मेरा कभी जन्म नहीं होता, मैं दस इंद्रियाँ भी नहीं हूँ। मैं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार भी नहीं हूँ। मैं सदा प्राण और मन के बिना ही शुद्ध स्वरूप हूँ। मैं सदैव बुद्धि के बिना ही साक्षी हूँ और सदैव चित्त (चैतन्य) स्वरूप में अवस्थित हूँ। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। मैं कर्ता नहीं, मैं भोक्ता नहीं, मैं प्रकृति का बस साक्षी हूँ। मेरी समीपता के कारण देह आदि सचेतन की तरह व्यवहार करते हैं। मैं स्थिर, नित्य, आनंद और ज्ञान के विशुद्ध रूप में स्थित निर्मल आत्मा हूँ। समस्त प्राणियों के अंदर मैं साक्षी रूप से संव्याप्त हूँ, इसमें कोई संशय नहीं है।"

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक १६-१९

ब्रह्मैवाहं सर्ववेदान्तवेद्यं

नाहं वेद्यं व्योमवातादिरूपम्।

व्योमवातादिरूपम्

रूपं नाहं नाम नाहं न कर्म

ब्रह्मैवाहं सच्चिदानन्दरूपम् ॥२०॥

“समस्त वेदान्त के द्वारा जिसे जाना जाता है, मैं वही ब्रह्म हूँ।मैं आकाश, वायु आदि नामों से जाना जानेवाला नहीं हूँ।मैं नाम, रूप और कर्म भी नहीं हूँ, बल्कि मात्र सत्-चित्-आनंद ब्रह्म हूँ।”

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक २०

नाहं देहो जन्ममृत्यु कुतो मे

नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे।

नाहं चेतः शोकमोहौ कुतो मे

नाहं कर्ता बन्धमोक्षौ कुतो म इत्युपनिषत् ॥२१॥

“मैं शरीर नहीं हूँ, तो फिर मेरा जनम-मरण कैसे हो सकता है?मैं प्राण नहीं हूँ, तो मुझे क्षुधा-पिपासा क्यों सताए?मैं मन नहीं हूँ, तो मुझे शोक-मोहादि क्यों हो?मैं कर्ता भी नहीं हूँ, तो फिर मेरी मुक्ति और बंधन किस तरह हो?इस उपनिषद् का यही रहस्य है।”

~ सर्वसार उपनिषद्, श्लोक २१

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।